प्रकाशक—
जैन-साहित्य-मन्दिर,
सागर [म० प्र०]

मुद्रक—
रेवा विलास प्रेस—जबलपुर।

विषय सूची।

सब प्रकार के जैन ग्रन्थ मिलने का पताः—

जैन-साहित्य-मन्दिर, सागर [म० प्र०]

प्रस्तावना।

श्री षोडशकारण और उसका महत्व।

विदित हो कि, संसार में तीर्थंकरत्व पद ही सर्वोच्च है। क्योंकि इस पद के धारकों के पुण्य परमाणुओं की प्रेरणा से इन्द्रादिक देवों को भी भक्तिवश पंचकल्याणक में आना पड़ता है। और निरन्तर दुःखभोगी नारकी भी कुछ समय के लिये शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। इस पद की प्राप्ति सामान्य पुण्य से नहीं किन्तु, असाधारण पुण्य से होती है। अर्थात् जिन शुभ कार्यों द्वारा बांधे हुए पुण्य के उदय से इन्द्रादि पद प्राप्त होते हैं उस पुण्य में भी ऐसी शक्ति नहीं कि वह तीर्थंकरत्व-पद-प्राप्ति रूप फल को दे सके।

अतएव आगम प्रसिद्ध दर्शन विशुद्धयादि सोलह गुण ही ऐसे हैं कि जिनके धारण करने से उपार्जन किये हुए विशिष्ट पुण्य द्वारा यह पद मिलता है। अर्थात् जो भव्योत्तम मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा इस दर्शन विशुद्धियादि सोलह गुणों के समुदायका एक साथ विशेष रीति से पालन करते हैं वेही तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकरत्व पद की प्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि इन्हीं सोलह गुणों रूप कारणों से होती हैं। अतएव इन गुणों के समुदाय का "षोडशकारण" यह सांकेतिक विशेष नामहो गया है और सुभीतेके विचारसे यही सांकेतिक नाम अधिकतासे व्यवहारमें आता है।

षोडशकारण के आराधन का समय।

वर्तमान में द्रव्यक्षेत्र, काल भाव, की प्रतिकूलता से तीर्थंकर पद को देने वाले षोडशकारण का पूर्णतया धारण-पालन नहीं हो सक्ता। अतएव आगामी भवों में इसकी सुप्राप्ति होने के लिये अहर्निश व प्रतिसमय व्रताचरण, पूजन-विधान, गुण चिन्तवन व मंत्र जापादि द्वारा दर्शन विशुद्धियादि गुणों

की भक्ति करना प्रत्येक जैन भ्राता का मुख्य कर्तव्य है। जो गृहस्थ आकुलता के कारण ऐसा नहीं कर सक्ते उनके हितार्थ आचार्यों ने प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ और चैत्रमास में अथवा केवल भाद्रपद मास में षोडशकारण के आराधन करने का भी उपदेश दिया है।

पूजा के प्रकार व विधि।

षोडशकारण पूजा, सामान्य (समुच्चय) और विशेष दो प्रकार से की जाती है। इनमें " सामान्य पूजा " तो वह कहलाती है जिसमें षोडशकारण समुदाय के अर्थ आव्हाननादि किये जाते हैं। और " विशेषपूजा " वह है जिसमें पहिले सामान्य पूजा की जाकर दर्शन विशुद्धयादि प्रत्येक गुण की स्थापना पूर्वक अष्ट द्रव्य से पूजा की जावे, और अन्त में समुच्चय जयमाल पढ़कर महार्घोच्चारण किया जावे।

सामान्य पूजा सर्वत्र एक रीति से की जाती है परंतु विशेष पूजा में कहीं २ भेद है अतः श्री रैधू कवि कृत प्राकृतभाषा की विशेष पूजा में से विधि के श्लोकों को सिलसिलेवार पृथक छांटकर भावार्थ सहित पुस्तक की आदि लगा दिये गये हैं। अतः पूजक जन इस विधि के अनुसार ही पूजा किया करें।*

षोडशकारण जयमाला।

जैसे दशलाक्षणिक दिवसों में शास्त्र के समय प्रतिदिन एक २ धर्म की जयमाला का अर्थ किया जाकर धर्म का स्वरूप दिखाया जाता है। उसी प्रकार षोडशकारण के दिवसों में भी कहीं २ प्रतिदिन एक २ जयमाल का अर्थ पढ़ा जाकर दर्शन विशुद्ध्यादि प्रत्येक गुण के स्वरूप का चिंतवन किया जाता है। अतएव दशलक्षण जयमाला तो अर्थ सहित प्रकाशित हो चुकी है परंतु, षोडशकारण जयमाला अभी

---

* बहुत से भाई इन श्लोकों को जयमाला समझकर पूजा के समय पढ़ा करते हैं। यह अनुचित है क्योंकि, ये श्लोक स्तुति रूप नहीं किंतु पूजा की विधि बताने वाले हैं।

तक प्रकाशित नहीं हुई थी। जिससे बहुत से स्थानों में अर्थ सहित पुस्तक के न मिलने व पुस्तक की अशुद्धता आदि कारणों से कितने ही धर्मात्माओं का मनोरथ पूर्ण नहीं होता था। अतएव इस त्रुटि को दूर करने के लिये अनेक पुस्तकों के आधार पर कई विद्वानों की सम्मति से जयमाला के मूलपाठ व अर्थ का संशोधन किया जाकर यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। जयमाला मुद्रित कराते समय यह भी विचार हुआ कि यदि इसके साथ श्री रैधू कवि कृत विशेष पूजाभी [जिसमें से यह जयमाला पृथक की गई है] ज्यों की त्यों दे दी जाय तो पूजक जनों का भी लाभ होकर एक पथ दो कार्यों की सिद्धि हो जावे। ऐसे ही विचार से यहां जयमाला को प्राकृत विशेष पूजा के अन्तर्गत ही कर दी है। और पूजकों के सुभीते के लिये भाषा की एक, संस्कृत की दो सामान्य पूजाएं भी आदि में लगा दी है। श्रीषोडशकारण व्रत व उसकी उद्यापन विधि तथा कथा मय यंत्र और मंत्रों के भी प्रकाशित की गई है।

जयमाला के अंत में शान्तिपाठ, विसर्जन और स्तुति संस्कृत तथा भाषा दोनों की भी शामिल कर दी है। इस तरह सोलहकारण व्रत करनेवालों को यह पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो सूचना मिलने पर आगामी संस्करण में संशोधन कर दिया जावेगा।

श्री रैधू कवि और उनका समय।

जे बहु सुय धारहु अंग सुसारहु, अग्युत्तारहु विणय गुणा।
ते सत्त महण्णउ वज्जिय दुण्णउ, उत्तरति रयधू पणुया ॥

यह षोडशकारण जयमाला किस कवि की बनाई हुई है? इसका प्रबल प्रमाण बहुश्रुत भावना का उपर्युक्त दिया हुआ घत्ता छन्द है। जिसमें रैधू ने अपना नाम प्रकट किया है।

परंतु रैधू कवि कौन थे, और कब हुए इस विषय का निर्णय करानेवाली कोई भी प्रशस्ति वगैरह हमारे देखने में नहीं आई। अवश्य जैनहितैषी सन १७ के अंक ३-४ में श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी ने प्राकृत आदिपुराण शीर्षक लेख द्वारा सूचित किया है कि "रैधू कवि विक्रम की १६ वीं शताब्दी या १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थे। * इनके पितामह का नाम देवराज व पिता का नाम हरसिंह था। इन्होंने तामरवंशी राजा डूगरचंद के राज्य में निवास करने वाले अग्रवाल जातीय खेमसिंह साहू के चतुर्थ लघुपुत्र होलूके उपदेशार्थ दशलक्षणजयमाला का निर्माण किया था।" श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्रकाशित "दिगम्बर जैन ग्रथ कर्ता और उनके ग्रंथ" नामक पुस्तक में यह भी लिखा है कि रैधू कवि ने प्राकृत भाषा में श्रीपालचरित्र, प्रद्युम्नचरित्र, व्रतसार, कारणगुण षोडशी, दशलक्षण जयमाला, रत्नत्रयी, मेघेश्वर चरित्र, षट्धर्मोपदेश रत्नमाला, भविष्यदत्तचरित्र और करकंड चरित्र इस प्रकार दश ग्रथ बनाये हैं। इनमें जो कारणगुणषोडशी है वह षोडशकारण जयमाला का नामांतर प्रतीत होता है।

"परवार-बन्धु" कार्यालय, जबलपूर। अक्षय तृतीया १९८३.	[खुरई, सागर निवासी] —छोटेलाल जैन।

* विक्रम सम्वत् १५७० के लिखे हुए एक गुटके में रैधू कवि कृत यही षोडशकारण जयमाला लिखी हुई है। इससे यह निश्चित होता है कि रैधू कवि सम्वत् १५७० के पहिले ही हो चुके थे।

ॐ

दर्शनविशुद्ध्यैनमः

विनयसम्पन्नतायैनमः

शीलव्रतेष्वनतिचारायनमः

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगायनमः

संवेगायनमः

शक्तितस्त्यागायनमः

शक्तितस्तपसेनमः

साधुसमाधयेनमः

वैयावृत्यकरणायनमः

अर्हद्भक्त्यैनमः

आचार्य भक्त्यैनमः

बहुश्रुत भक्त्यैनमः

प्रवचन भक्त्यैनमः

आवश्यकापरिहाणयेनमः

मार्ग प्रभावनायनमः

प्रवचन वत्सलत्वायनमः
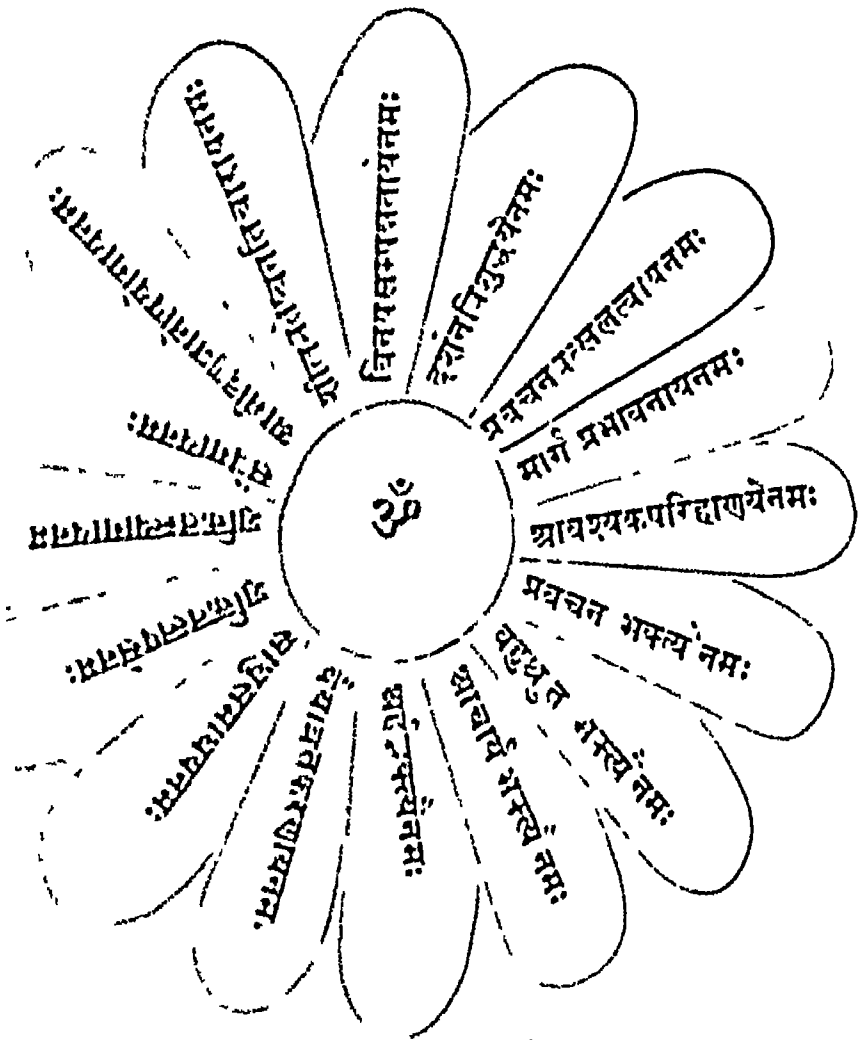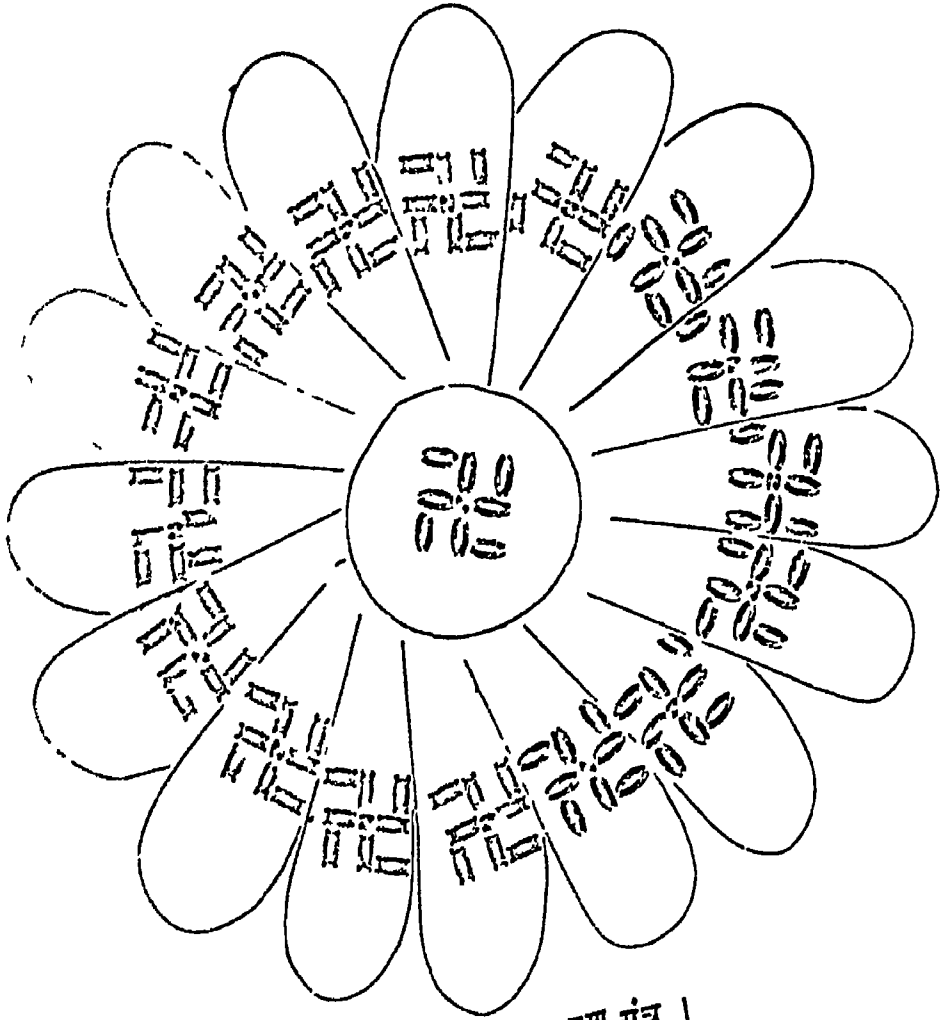
श्री षोडशकारण यंत्र ।

श्री पोडशकारण यंत्र ।

षोडशकारण पूजा की विधि।

षोडशकारण की सामान्य पूजा सब जगह एकसी प्रचलित है। परन्तु विशेष पूजामें कहीं कहीं भेद है। श्री रयधू कवि कृत प्राकृत भाषा की विशेष पूजा में निम्न लिखित छन्द पूजा की विधि बतलाने वाले हैं, किन्तु पूजक जन इन श्लोकों को जयमाला समझ कर पूजा के साथ ही पढ़ा करते हैं, जो अनुचित है। क्योंकि ये श्लोक स्तुति रूप नहीं किन्तु पूजा की विधि बतलाते हैं। इसलिये इन श्लोकों को सिलसिलेवार पृथक छांटकर भावार्थ सहित यहां दे दिये हैं। अतः पूजन जन इसी विधि के अनुसार पूजा किया करें:—

त्रिभंगी छन्दः—इदि सोलह मत्तइ, दुक्ख खिपंतइ, सोलह कोठह तालिहहिं।
अणुकमेण सुसिद्धहि, वर सुहदिट्ठहिं, पुणु सुणणहि सुय पूयविहि ॥ १ ॥
अजि जंतु वर पट्ठविज्जइ, तस्स पयट्ठा भव्वहं किज्जइ।
घय पय दहिय इक्खुरस पउरइ, ण्हाविज्जय वज्जंतहु तुरियइ ॥ २ ॥
पुणु कलसहिं ण्हाविवि गंधोवउ, वंदिज्जइ णासिय तणु रोयउ।
पुणु पंक्खा लिवि ठाविवि जंते, आपुण सम्मुह जुंजिविमत्ते ॥ ३ ॥
पुणु दंसण विसुद्धि तिहुं वारहि, मंतु पढे विणु दुरिय णिवारहि।
आवाहण विहि पढमी किज्जइ, तह थिर चित्त करवि ठाविज्जइ ॥ ४ ॥

सण्णिहीय करण पुणु तिज्जइ, तहं ठावणु विहाणु भाविज्जइ।
पुणु पुज्जा वसुमेयहि दव्वहिं, पारभिज्जइ विगलिय गब्भहिं ॥ ५ ॥
पत्र पिय अंगाणं दसण पमुहाय अट्ठदूणाणं।
इक्केकं पडि पूजा कायव्वा भिण्णि भिण्णाय ॥ ६ ॥
इक्केक पडि पूय पुणु उत्तारहु कणय पत्तठवि अग्घ।
जस्संगवस्स पूया तस्स थुई किज्जए णग्घम् ॥ ७ ॥
इय सोलह कारण पूय अग्घु, करिऊण उत्तविहिणा अणग्घु।
पुणु तेहिं जिमत्तइ अट्ठदुण, मालहि कलियहि णउ अहियऊण ॥ ८ ॥
एयंगो किज्जइ सुद्ध भाव, एक्केकिगि णिद्दलिय पाव।
पुणु थिर भाणे भाइयइजंतु, दंसण विसुद्धि पमुहाइमंतु ॥ ९ ॥
ताणंतरि कुसुमंजलि खिवेवि, पणमंति सिरे उभउ हवेवि।
दिमि दिमिय दिमिंकिय मंदलेहिं, उच्छलिय तरुणिमुह मंगलेहिं ॥ १० ॥
सल सलिय पवर भताल एहिं, तुर तुरिय सद्द भा हल सएहिं।
हो हो रव भय वहु संख एहिं, टण टण टणंत घंटा सएहिं ॥ ११ ॥
डिम डिमय डिमंकिय ढोल एहिं, भ भ किय भेरी रालएहिं।
[घत्ता]-इयमाइ पवरवज्जइ गणहिं, वज्जित्तह दह दिस भरिया।

दिज्जइ भन्वेण भत्ति जुएण, तिण्णि पयक्ख णाय तुरिया ॥ १२ ॥

भावार्थ—[चित्र देखिये] सोलह कोठोंका यत्र बनाकर उसके प्रत्येक कोठा मे अनुक्रम से एक एक भावना का मंत्र लिखना चाहिये। फिर इस यत्र को उत्तम पट्टे पर स्थापन करके इसकी प्रतिष्ठा करे। पश्चात चौवीस महाराज की प्रतिमा यंत्र के साथ स्थापन करके उनका दूध, दही, घृत, इक्षुरस से अभिषेक करके जल के कलशों से वादित्र नाद पूर्वक स्नान कराना चाहिये। इस प्रकार शरीर के रोगों को नाश करने वाले गन्धोदक की वन्दना को, फिर "ओं ह्री दर्शन विशुद्धये नमः" इस मंत्रका ३ वार उच्चारण करके आह्वान, स्थापन और सन्निधिकरण करना चाहिये। पश्चात् अष्ट द्रव्य से दर्शन विशुद्धि नामक प्रथम अंग की पूजा करे–इसी प्रकार जो विनयसम्पन्नतादि अंग हैं उनकी भी प्रत्येक पूजा करके जिस अंग की पूजा की हो उसकी स्तुति पढकर महार्घ देना चाहिये।

इस प्रकार सोलह अंगों को पूजा करके फिर यंत्र में लिखित सोलह अंगों के सोलह मंत्रों की यथाक्रम शुद्ध चित्त से माला जपना चाहिये–स्थिर चित्त होकर उन मंत्रों का ध्यान करना चाहिये। * पश्चात् कुसमांजलि क्षेपण करके खड़े होकर मस्तक से

* षोडशकारण व्रत के दिनों में दर्शन विशुद्धादि मंत्रों का क्रम से एक एक मत्र का दो दो दिन तक जाप करे। तथा धारणा-पूर्णता और उद्यापन में समुच्चय मत्र का जाप करे। " ओं ह्रीं दर्शन विशुद्धादि षोडशकारणेभ्यो नमः" इस प्रकार नित्य त्रिकाल जाप करना चाहिये।

नमस्कार करे। फिर मृदंग, झांझ, करहल, शंख, घंटा, ढोल, भेरी आदि वादित्रों के नाद व स्त्रियों के मुख से मंगल गान होते हुए भव्य जीव को तीन प्रदक्षिणा करना चाहिये।

षोडशकारण व्रत की विधि।

फाल्गुन सुदी पूर्णमा को षोडशकारण का मंडल मांडकर और उसमें सिंहासन पर चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा तथा यंत्र स्थापन करके अभिषेक पूर्वक पूजन करे-पश्चात् समुच्चय मंत्र का जाप करे।

पूजन के दिनों में किसी अतिथि तथा अभ्यागत को भोजन कराके आप भी मौन ‡ सहित एक स्थान में बैठकर एक बार भोजन करे-दूसरी बार जलादि तक भी ग्रहण न करे-अपने आपको इसी समय से व्रती समझे-गृहारम्भादि कार्यों का त्याग करे,

---

‡ मौन के साथ भोजन करते समय किसी प्रकार का संकेत, खास करके अंगुली व आंख आदि के इशारे से अपने अभिप्राय को समझाकर किसी खाद्य, पेय आदि पदार्थ को नहीं मंगाना चाहिये। हां, निषेध (नहीं) वाचक संकेत करने में हानि नहीं है।

विकथा को छोडे और निरन्तर दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन करता रहे। अपना समय धर्म ध्यान में वितावे, दिन में निद्रा न ले, प्रमाद व गेद दूर करने के लिये रात्रि में यथासम्भव निद्रा लेवे, इसी प्रकार एक मास आश्विन वदी एकम तक निरन्तर करे। पूर्णिमा को व्रत धारण करके प्रतिपदा को उपवास, फिर दोज को पारणा, पुनः तीज को उपवास, चौथ को पारणा इस प्रकार एक उपवास एक पारणा करके व्रत करे–यह मध्यम व्रत की विधि है।

व्रत के बीच में पर्व दिनों (अष्टमी, चतुर्दशी) के आजाने पर अथवा तिथि की न्यूनाधिकता के कारण कभी २ वेला (दो उपवास) तेला (तीन उपवास) भी आजाते हैं–उनको यथा सम्भव पालन करना चाहिये। पश्चात् आश्विन वदी २ (गुजराती भादों वदी २) को व्रत की पूर्णता के लिये भी उक्त प्रकार अभिषेक—पूजादि करके अतिथि-अभ्यागत को भोजन कराके, दीन दुखियों को यथा योग्य दानादि देवे। पश्चात सुहृद साधर्मी जनों के साथ वैठकर आप भोजन करे। व्रत की निर्विघ्न समाप्ति के हर्ष में विशेष रूप से जिन गुण-गान भजन पूर्वक जागरण करे। इतना विशेष और करना चाहिये कि धारणा और पूर्णता के दिन तो समुच्चय मन्त्र का जाप और नित्यप्रति दो दो दिनों में यंत्र लिखित १६ मंत्रों मेंसे क्रमशः एक एक मंत्र का जाप करना चाहिये। इस प्रकार १६ मंत्र, ३२ दिन में पूर्ण होते हैं। उत्कृष्ट व्रत, वेला तेला आदि पूर्वक किया जाता है।

१७

मध्यम में १ उपवास और एक पारणा इकंतरे से करे। जघन्यव्रत में पर्व दिनों में पहले दिन उपवास, करके नित्य एकासना करना चाहिये।

षोडशकारण उद्यापन-विधि।

उपर्युक्त विधि अनुसार माघ, चैत्र और भाद्रपद मासों में एक एक मास पर्यन्त तीन शाखाओं के व्रत स्वशक्ति अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम अथवा जघन्य रीति से १६ वर्ष तक करे। पश्चात् निम्न विधि पूर्वक उद्यापन करेः—

जिस मास से षोडशकारण व्रत प्रारम्भ किया हो उस मास तक उसे पूर्ण करके उसके अनन्तर शाखावाले मास में समस्त साधर्मी जनोंको बुलाकर उद्यापन की विधि प्रारम्भ करे। प्रथम जिन चैत्यालयमें एक वेदी या बड़े चौकापर षोडशकारणका मांडना मांडकर उसके मध्य चतुर्विंशति जिनप्रतिमा और यंत्रकी स्थापना करके अभिषेक पूर्वक बृहत षोडशकारण विधान अर्थात् इसीमें छपी पूजा जयमालाका प्रारम्भकरके शान्तिपूर्वक विसर्जन करे।

षोडशकारण मंडल, यंत्र के समान ही, सोलह कोठों का, पांच प्रकार के शुद्ध रंग में चांवलों को रंगकर बनाया जाता है। किन्तु कोठों में मन्त्रों के नाम न लिखकर साथिया बना देना चाहिये। [नकशा देखिये]

पूजन के समय प्रत्येक कोठों में प्रत्येक धर्म की जयमाल पढकर पूर्णार्घ चढाना चाहिये। पूजा शुद्ध (खादी के) वस्त्रों को पहिनकर करना चाहिये। तथा मंडल को

चँवर, छत्र आदि प्रातिहार्य तथा अष्ट मंगल द्रव्य से विविध प्रकार सजाना चाहिये।

उद्यापन में सोलह प्रकार के उपकरण (जैसे शास्त्र, चौकी, अछावर, चंदेवा, झालर, घंटा, चवर, छत्र, पूजा के बर्तन आदि) चैत्यालय में भेंट करे। कम से कम सोलह श्रावकों को भोजन करावे, फल, बादाम, सुपारी, श्रीफल आदि कोई फल बांटे-तीर्थों, शिक्षा संस्थाओं आदिको तथा दीन दुखी जनोंको यथा शक्ति भोजन, वस्त्र, औषधि आदि दान देवे-ज्ञानदान में शास्त्र बांटे, अतिथि तथा अभ्यागतोंका सन्मान करे।

इस व्रत का फल तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है। जैसा कि नीचे की कथा से विदित होता है:—

सोलहकारण व्रत कथा।

नमो देव अरहंत नित, गुरु निर्ग्रन्थ मनाय।
श्री जिनवाणी हृदय धर, कहूं कथा समुदाय॥

आर्य खंड में मगध नामका एक प्रदेश है, जिसे आज कल विहार प्रांत कहते हैं। उस देश में राजगृही नामकी एक बहुत मनोहर नगरी है, और इस नगरी के समीप विपुलाचल, उदयाचल आदि पंच पहाडियां हैं, तथा पहाड़ियों के नीचे कितनेक उष्ण जल के कुंड बने हैं। इन पहाडियों व झिरनों के कारण नगर की शोभा विशेष बढ़ गई है।

यद्यपि काल दोष से अब यह नगर उजाड हो रहा है परंतु उसके आस पास के चिन्ह देखने से प्रकट होता है कि किसी समय यह नगर अवश्य ही बहुत उन्नत होगा।

अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानस्वामीके समयमें इस नगरमें राजा श्रेणिक राज्य करते थे। यह राजा बडा न्यायी और प्रजापालक था। ये अपनी कुमार अवस्था में पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से अपने पिता द्वारा देश से निकाले गये थे, सो भ्रमण करते हुए एक बौद्ध साधु के उपदेश से बौद्धमत को स्वीकार करके बहुत काल तक बौद्ध मतावलंबी ही रहे। और निज बाहु तथा बुद्धिबल से विदेशों में भ्रमण करके बहुत विभूति व ऐश्वर्य सहित स्वदेश को लौटे तो वहां के निवासियों ने इन्हें अपना राजा बनाना स्वीकार किया। इस समय इनके पिता उपश्रेणिक राजा का स्वर्गवास हो चुका था, और इनके एक चिलातक नाम के भाई अपने पिता द्वारा प्रदत्त राज्य करते थे, इनके राज्य कार्यमें अनभिज्ञ होने तथा प्रजा पर अत्याचार करने के कारण प्रजा इनसे अप्रसन्न होगई थी। इसी से सब प्रजा ने मिलकर इन्हें राज्यच्युत कर दिया। ठीक है, राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता है, वह एक प्रकार से प्रजा का नौकर ही है, क्योंकि प्रजा के द्वारा ही राजा को द्रव्य मिलता है, उसकी आजीविका प्रजा के आश्रित है, इसलिये वह प्रजा पर नीतिपूर्वक शासन कर सकता है। उसका कर्तव्य है कि वह प्रजा की भलाई के लिये सतत प्रयत्न करे, उसकी यथासाध्य रक्षा व उन्नति का उपाय करे, तभी वह राजा कहाने के

योग्य हो सकता है, और वह प्रजा भी उसकी आज्ञाकारिणी हो सकती है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता और पुत्र के समान होता है-इसलिये जब २ राजा की ओर से अन्याय व अत्याचार बढ़ जाते हैं, तब तब प्रजा अपना नया राजा चुन लिया करती है, और अत्याचारी-अन्यायी राजा को राज्यच्युत करके निकाल देती है। इसी नियमानुसार राजगृहीकी प्रजाने अन्यायी चिलांतक नाम के राजा को निकाल कर श्रेणिक को अपना राजा बनाया और इस प्रकार राजा श्रेणिक नीतिपूर्वक पुत्रवत् प्रजाका पालन करने लगे।

पश्चात् इनका एक और ब्याह राजा चेटक की कन्या चेलनाकुमारी से हुआ। चेलना रानी जैन धर्मानुयायी थी, और राजा श्रेणिक बौद्ध मतानुयायी थे। इस प्रकार यह केर वेर (केला और वेरी) का साथ बना था जिससे इनमें निरतर धार्मिक विवाद हुआ करता था। दोनों पक्ष वाले अपने अपने पक्ष के मंडनार्थ प्रबल युक्तियां दिया करते थे, परन्तु " सत्यमेव जयते सर्वदा " की उक्ति के अनुसार अन्त में रानी चेलना ही की विजय हुई-अर्थात् राजा श्रेणिक ने हार मानकर जैन धर्म स्वीकार कर लिया, और उसकी श्रद्धा जैन धर्म में अत्यन्त दृढ़ हो गई। इतना ही नहीं किन्तु वह जैन धर्म, देव वा गुरुवों का परम भक्त बन गया और निरंतर जैन धर्म की उन्नति में सतत प्रयत्न करने लगा।

एक दिन राजगृही नगर के समीप उद्यान-वन में विपुलाचल पर्वत पर श्री महदेवाधिदेव परम भट्टारक श्री १००८ वर्द्धमान स्वामी का समवशरण आया। जिसके अतिशय

से वहां के वन उपवनों में छहों ऋतुओं के फल फूल एक ही साथ फल और फूल गये-तथा नदी, सरोवर आदि जलाशय जलपूर्ण होगये, वनचर व जलचर आदि जीव सानन्द अपने अपने स्थानों में स्वतत्र निर्भय होकर विचरने और क्रीड़ा करने लगे, दूर दूर तक रोग-मरी व अकाल आदि का नाम भी न रहा, इत्यादि अनेकों अतिशय होने लगे, तब वनमाली फल और फूलों की डाली लेकर यह आनन्ददायक समाचार राजा के पास सुनाने के लिये गया, और विनययुक्त भेंट करके सब समाचार कह सुनाये।

राजा श्रेणिक यह सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और अपने सिंहासन से तुरत ही उतर कर विपुलाचल की ओर मुह करके परोक्ष नमस्कार किया। पश्चात् वनमाली को यथेच्छ पारितोषिक दिया और यह शुभ सवाद सब नगर भर में फैला दिया। अर्थात् यह घोषणा करा दी कि महावीर भगवान का समवशरण विपुलाचल पर्वत पर आया है, इसलिये सब नरनारी वंदना के लिये चलो और राजा स्वयम् भी अपनी विभूति सहित हर्षित मन होकर वंदना के लिये गया।

जाते २ मानस्थंभ पर दृष्टि पडते ही राजा हाथी से उतर कर पाव प्यादे समवशरण में रानी आदि स्वजन-पुरजनों सहित पहुंचा और सब ठोर यथायोग्य वंदना-स्तुति करता हुआ गधकुटी के निकट उपस्थित हुआ, और भक्ति से नम्रीभूत हो, स्तुति करके, मनुष्यों की सभा में जाकर बैठ गया-और सब लोग भी यथा योग्य स्थान में बैठ गये।

तब मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) जीवों के कल्याणार्थ श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा मेघों
कीं गर्जना के समान ॐकार रूप अनक्षरी वाणी (दिव्य ध्वनि) हुई। यद्यपि इस वाणी को
सर्व उपस्थित सभाजन अपनी अपनी भाषा में यथासंभव निज ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम
अनुसार समझ लेते हैं तथापि गणधर (गणेश) जो कि मुनि की सभा में श्रेष्ठ चार ज्ञान
के धारी हैं। उक्त वाणी को द्वादशांगरूप कथन कर भव्य जीवों को भेदाभेद सहित समझाते
हैं, सो उस समय श्री महावीर स्वामी के समवशरण में उपस्थित गणनायक श्री गौतम
स्वामी ने प्रभु की वाणी को सुनकर सभाजनों को सात तत्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय
इत्यादि का स्वरूप समझाकर रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) रूप
मोक्षमार्ग का कथन किया और, सागार (गृहस्थ) तथा अनागार (साधु- गृहत्यागी)
धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुनकर निकट भव्य (जिनकी संसार-स्थिति थोड़ी रह गई
है अर्थात् मोक्ष होना निकट रह गया है) उन जीवों ने यथा-शक्ति मुनि अथवा श्रावक के व्रत
धारण किये तथा जो शक्तिहीन जीव थे, और जिनको दर्शन मोह का उपशम व क्षय हुआ
था सो उन्होंने सम्यक्त्व ही ग्रहण किया। इस प्रकार जब वे भगवान धर्म का स्वरूप कथन
कर चुके, तब उस सभा में उपस्थित परम श्रद्धालु भक्तराज श्रेणिक ने विनययुक्त नम्रीभूत
हो श्री गौतमस्वामी (गणधर) से प्रश्न किया " कि हे प्रभु षोड़शकारणव्रत की विधि
किस प्रकार है, और इस व्रत को किसने पालन किया तथा क्या फल पाया ? सो कृपाकर

कहो, ताकि हीन शक्तिधारी जीव भी यथाशक्ति अपना कल्याण कर सकें, और जिन धर्म की प्रभावना होवे। यह सुनकर श्री गौतमस्वामी बोले,–राजा! तुम्हारा यह प्रश्न समयोचित और उत्तम है इसलिये ध्यान लगाकर सुनो! इस व्रत को कथा व विधि इस प्रकार है:—

षोडश कारण भावना, जो भाई चितधार।
कर तिन पद की वदना, कहूँ कथा सुखकार ॥१॥

जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के मगध (विहार) प्रांत में राजगृही नगर है। वहां का राजा हेम प्रभु और रानी विजयावती थी। इस राजा के यहां महाशर्मा नाम का नौकर था और उसकी स्त्री नामका प्रियँवंदा था। इस प्रियवंदा के गर्भ से काल भैरवी नाम की अत्यन्त कुरूपा कन्या उत्पन्न हुई, जिसे देखकर मातापितादि सभी जनों को घृणा होती थी।

एक दिन मतिसागर नाम के चारण मुनि आकाशमार्ग से गमन करते हुए इस नगरमें आये, तो वह महाशर्मा अत्यन्त भक्ति सहित श्री मुनिको पड़गाहकर विधिपूर्वक आहार देकर, मुनिराज द्वारा धर्मोपदेश सुनने लगा। पश्चात् जुगल कर जोडकर विनय-युक्त हो पूछा:—हे नाथ! यह मेरी कालभैरवी नामकी कन्या किस कर्मके उदयसे ऐसी कुरूपा और कुलक्षणी उत्पन्न हुई है, सो कृपा कर कहिये? तव श्री मुनिराज अवधिज्ञानके धारी कहने लगे, वत्स! सुनो:—

उज्जैनी नगरीमें महीपाल नामका राजा और उसकी वेगावती नामकी रानी थी। इस रानी से विशालाक्षी नामकी एक कन्या थी। यह कन्या बहुत रूपवान होनेके कारण बहुत अभिमानिनी हुई और इसी रूपके मदमें उसने एक सद्‌गुण न सीखा। यथार्थ है अहंकारी (मानी) को विद्या नहीं आती है।

एक दिन वह कन्या अपनी चित्रसारीमें बैठी हुई दर्पणमें अपना मुख देख रही थी कि, इतनेमें ज्ञानसूर्य महातपस्वी श्री मुनिराज उसके घरसे आहार लेकर निकले, सो इस अज्ञान–रूपके मदमें मस्त कन्या ने मुनिको देख कर खिड़कीसे मुनिके ऊपर थूक दिया, और थूक कर बहुत हर्षित हुई।

पृथ्वी समान क्षमावान श्री मुनिराज अपनी नीची दृष्टि किये हुए चले ही जा रहे थे कि, राजपुरोहित इस कन्या का उन्मत्तपना देखकर उसपर बहुत क्रोधित हुआ तथा उसे धमकाया और तुरन्त ही प्रासुक जल से श्री मुनिराजका शरीर प्रक्षालित किया और बहुत भक्तिसे वैयावृत्य कर स्तुति की। यह देखकर वह कन्या लज्जित हुई और अपने किये हुए नीच कृत्यपर पछताकर श्री मुनिके पास जाकर नमस्कार किया और अपने अपराधकी क्षमा मांगी। सो वह कन्या वहां से मरकर तेरे घर यह कालभैरवी नामकी कन्या हुई है। इसने जो पूर्व जन्ममें मुनि की निन्दा व उपसर्ग रूप घोर पाप किया है, उसीके फल से ऐसी कुरूपा है। पूर्व संचित कर्मोंका फल भोगे विना छुटकारा नहीं होता है, इसलिये अब

इसे समभावोंसे भोगना ही कर्तव्य है–और आगेको ऐसे कर्म न बंधें ऐसा उपाय करना योग्य है। तब पुनः वह महाशर्मा बोला, हे प्रभु! कृपा कर कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे यह कन्या इस दुःख से छूटकर सम्यक सुखोंको प्राप्त हो। तब श्रीमुनिराज बोले वत्स! सुनोः—ससारमें ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो मनुष्योंके लिये असाध्य हो अर्थात् वह न कर सके। यह कितनासा दुःख है? जिनधर्म के सेवन से अनादिसे लगे हुए जन्म मरणादि दुःख भी जब छूट कर सच्चे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है तब और दुःखों की क्या बात है! वे तो सहज हीमें छूट जाते हैं। इसलिये यदि यह कन्या षोडशकारण भावना भावे और व्रत पाले, तो स्त्रीलिंग छेदकर मोक्ष सुखको पावेगी। तब वह महाशर्मा बोला, हे स्वामी! इस व्रतकी कौनसी भावना है और क्या विधि है? सो कृपा कर कहिये। मुनिमहाराजने तब इन जिज्ञासुओं को निम्न प्रकार व्रतका स्वरूप और विधि बताई। वे बोलेः—

(१) संसार में जीवका वैरी मिथ्यात्व और हितू सम्यक्त्व है। इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि सबसे प्रथम मिथ्यात्व (अतत्व श्रद्धान या उलटा–विपरीत श्रद्धान) को वमन (त्याग) करके सम्यक्त्व रूपी अमृतका पान करें; सत्यार्थ (जिन) देव, सच्चे (निर्ग्रंथ) गुरू और सच्चे (जिन भाषित) धर्मपर श्रद्धा (विश्वास) लावे। तत्पश्चात् सप्त तत्व तथा पुण्य पापका स्वरूप जानकर–इनकी श्रद्धा करके अपनी आत्माको पर पदार्थों

से भिन्न अनुभव करे। और अन्य मिथ्यात्वी देव गुरू व धर्मको दूर ही से इस प्रकार छोड़ दे जैसे तोता अवसर पाकर पिंजरे से निकल भागता है। ऐसे सम्यक्त्वी पुरुष के प्रशम (समभाव) सुख व दुःख में एकसा समुद्र सरीखा गंभीर रहना, घबराना नहीं। संवेग (धर्मानुराग) सांसारिक विषयोंसे विरक्त हो धर्म और धर्मायतनों में प्रेम बढ़ाना। अनुकम्पा (करुणा) दुःखी जीवोंपर दया भाव करके उनकी यथाशक्ति सहायता करना। और आस्तिक्य (श्रद्धा) कैसा भी अवसर क्यों न आवे तो भी निर्णय किये हुए अपने सन्मार्गमें दृढ़ रहना। ये चार गुण प्रकट हो जाते हैं। उन्हें किसी प्रकारका भय व चिन्ता-व्याकुल नहीं कर सकती है। वे धीर वीर सदा प्रसन्न चित्त ही रहते हैं, कभी किसी चीज की उन्हें प्रबल इच्छा नहीं होती, चाहे वे किसी कर्मके उदयसे व्रत न भी कर सकें तो भी व्रतोंमें उनकी श्रद्धा व सहानुभूति रहती है। यही मोक्ष मार्गका प्रथम सोपान (सीढ़ी) है। इसलिये इसे ही २५ मल-दोषोंसे रहित और अष्ट अंग सहित धारण करे, इसके बिना ज्ञान और चरित्र सब निष्फल-मिथ्या हैं, यही दर्शनविशुद्धि नामक प्रथम भावना है।

(२) जीव (मनुष्य) संसार में जो सबकी दृष्टिसे उतर जाता है उसका कारण केवल अहंकार (मान) है, भले ही वह अभिमानी अपनी समझ में अपने आपको बड़ा माने परन्तु क्या कौआ मंदिर के शिखरपर बैठ जानेसे गरुड़पक्षी हो सकता है? कभी नहीं। सब ही प्राणी उससे घृणा करते हैं, कदाचित् उसके पूर्व पुण्योदय से उसे कोई कुछ न

२७

कह सके, तो भी क्या वह किसीके मनको वदल सकता है? जो ऊपरको देखकर चलता है वह अवश्य ही नीचे गिरता है। ऐसे मानी पुरुष को कोई विद्या सिद्ध नही होती है, जो कि होना असभव है। इसलिये निरंतर अपने से बड़ों में सदा विनयपूर्वक बर्त्ताव करना चाहिये, समान (बराबरीवाले) पुरुष में प्रेम और छोटों में करुणा भाव से प्रवर्तना चाहिये, और सदैव अपने दोषों को स्वीकार करने में सावधान रहना चाहिये, क्योंकि जो अभिमानी अपने दोष नही स्वीकार करता है उसकेदोष बढ़ते ही जाते हैं, वह कभी उनसे मुक्त नही हो सकता है। इसलिये दर्शन,ज्ञान,चरित्र,तप और उपचार इन पांच प्रकार की विनयों का स्वरूप विचार कर विनयपूर्वक प्रवर्तन करना सो विनय सम्पन्नता नाम की भावना है।

(३) बिना मर्यादा के मन वश नही होता है, जैसे कि बिना लगाम (बाग-रास) के घोडा और बिना अंकुश के हाथी। इसलिये आवश्यक है कि मन व इन्द्रियों को वश करने के लिये कुछ मर्य्यादारूपी अंकुश रखना चाहिये। इसलिये अहिंसा (किसी भी जीव को न सताना, न मारना), सत्य (यथार्थ वचन बोलना, परंतु किसी को पीड़ाजनक न हों), अचौर्य (बिना दिये हुए पर वस्तु का ग्रहण न करना), ब्रह्मचर्य (स्त्री मात्र का अथवा स्वदार बिना अन्य स्त्रियों के साथ विषय (मैथुन सेवन) का त्याग) और परिग्रह त्याग या परिग्रह प्रमाण (सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग या अपनी योग्यता या शक्ति अनुसार आवश्यक वस्तुओं का प्रमाण करके अन्य समस्त पदार्थों से ममत्व भाव त्याग करना, इसे

लोभ को रोकना भी कहते हैं। इस प्रकार ये पांच व्रत और इनकी रक्षार्थ सप्तशीलों (३ गुणव्रतों और ४ शिक्षाव्रतों) का भी पालन करे। तथा उक्त पांचों व्रतों के अतीचार (दोष) भी बचावे। इन व्रतों के निर्दोष पालन करने से न तो राज्यदंड होता है और न पंचदण्ड। ऐसा व्रती पुरुष अपने सदाचार से सबका आदर्श बन जाता है। इसके विरुद्ध कदाचारी जनों को इस भव में और पर भव में भी अनेक प्रकार दण्ड व दुख सहने पड़ते हैं, ऐसा विचार करके इन व्रतों में दृढ़ होना चाहिए। यह शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

(४) हिताहितका स्वरूप बिना जाने जीव सदैव अपने लिये सुख प्राप्ति की इच्छा से विपरीत मार्ग ग्रहण कर लेता है, जिससे सुख मिलना तो दूर होता जाता है और दुख का सामना करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान सम्पादन करना परमावश्यक है; क्योंकि जहां चर्म चक्षु नहीं देख सकते हैं वहां ज्ञान चक्षु ही काम देते हैं। ज्ञानी पुरुष नेत्र हीन होने पर भी अज्ञानी आंखवालेसे अच्छा है। अज्ञानी न तो लौकिक कार्यों ही में सफल मनोरथ होता है, और न परलौकिक ही कुछ साधन कर सकता है। वह ठौर ठौर ठगाया जाता है, और अपमानित होता है। सलिये ज्ञान उपार्जन करना आवश्यक है, विचार करके विद्याभ्यास करना, व कराना सो अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नाम की भावना है।

(५) इस जीव के विषयानुरागता इतनी बढ़ी हुई है कि यदि तीन लोक की समस्त सम्पत्ति इसे भोगने को मिल जाए तो भी तृप्ति न हो, तृप्ति तो क्या इसकी

विषयाभिलाषा का असख्यातवा अश भी न पूरा हो। और जीव संसार में अनन्तानन्त हैं, लोक के पदार्थ भी जितने हैं उतने ही हैं, और सभी जीवों की अभिलाषा ऐसी ही बढी हुई है, तब यह लोक की सामग्री किस किसको, किस किस अश में तृप्त कर सकती है? अर्थात् किसको नही। ऐसा विचार कर उत्तम पुरुष अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोक कर मन को धर्म ध्यान में लगा देते हैं। इसी को सवेग भावना करते हैं।

(६) जब तक मनुष्य किसी भी पदार्थ में ममत्व भाव रखता है, अर्थात् यह मेरी है इत्यादि भाव रखता है, तब तक वह कभी सुखी नही हो सकता है, क्योंकि पदार्थों का स्वभाव नाशवान है, जो उत्पन्न हुए सो नियम से नाश होंगे, जो मिले हैं सो बिछुड़ेंगे, इसलिये जो कोई इन पदार्थों को (जो उसे पूर्व पुण्योदय से प्राप्त हुए हैं) अपने आप ही छोड़ देवे ताकि वे (पदार्थ) उसे न छोडने पावें, तो नि सन्देह दुख आने का अवसर ही न रहेगा। इस प्रकार विचार कर जो आहार, औषध, शास्त्र (विद्या) और अभय इन चार प्रकार के दानों को देता है तथा अन्य यथावश्यक कार्यों में धर्म प्रभावना व परोपकार में द्रव्य खर्च करता है उसे ही शक्तितस्त्याग नामकी भावना कहते हैं।

(७ यह जीव स्वस्वरूप को भूला हुवा इस घृणित देह में ममत्व करके इसके पोषणार्थ नाना प्रकार के पाप करता है, तो भी यह शरीर स्थिर नही रहता है। दिनों दिन सेवा करते २ और सम्हालते २ क्षीण होता जाता है और एक दिन आयु की स्थिति पूर्ण

होते ही छोड़ देता है। सो ऐसे नाशवंत घृणित शरीर में ममत्व (राग) न करके वास्तविक सच्चे सुख की प्राप्ति के अर्थ इसको लगाना चाहिये–ताकि इसका जो जीव के साथ अनन्तानन्तवार संयोग तथा वियोग हुआ है, सो फिर इससे ऐसा वियोग हो कि फिर कभी भी संयोग न हो–मोक्ष प्राप्त हो जावे। इसमें यही सार है, क्योंकि स्वर्ग–नर्क वा पशु पर्याय में तो तपश्चरण पूर्ण हो ही नहीं सकता है, इसलिये यही श्रेष्ठ अवसर है। ऐसा समझकर अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्याशन और काय–क्लेश ये छः वाह्य, और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये अभ्यंतर इस प्रकार बारह तपोंमें प्रवृत्ति करता है, सो सातवीं शक्तितस्तप नामकी भावना है।

(८) धर्मकी प्रवृत्ति धर्मात्माओं से होती है, और धर्म साधुजनों के आधार है, इसलिये साधुवर्गमें आये हुए उपसर्गोंको यथासंभव दुर करना यह साधु समाधि नाम की भावना है।

(९) शरीर में किसी प्रकार की रोगादिक वाधा आजाने से परिणामों में शिथिलता व प्रमाद आना संभव है। इसलिये साधर्मी (साधु व गृहस्थ) जनों की सेवा, उपचार करना कर्तव्य है। इसे वैयावृत्यकरण भावना कहते हैं।

(१०) अर्हन्त भगवान के द्वारा ही मोक्षमार्ग का उपदेश मिलता है, क्योंकि वे प्रभु केवल कहते ही नहीं हैं किन्तु स्वयं मोक्ष के सन्निकट पहुंच गये हैं। इसलिये उनके गुणों में अनुराग करना, उनकी भक्तिप्रेमपूर्वक करना सो अर्हद्भक्ति भावना है।

३१

(११) बिना गुरु के सच्चे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, और सच्चे उपदेशक, निरपेक्ष, हितैषी, आचार्य महाराज के गुणों की सराहना व उनमें अनुराग करना सो आचार्यभक्ति नामक भावना है।

(१२) अर्द्ध दग्ध पुरुष के द्वारा सच्चे उपदेश की प्राप्ति होना दुर्लभ है, इसलिये समस्त द्वादशांग के पारगामी श्री उपाध्याय महाराज की भक्ति करना, उनके गुणों में अनुराग करना सो बहुश्रुतभक्ति नामक भावना है।

(१३) सदा समान भाव से वस्तु स्वरूप को बतलाने वाले जिन शास्त्रों का पठन पाठनादि अभ्यास करना, सो प्रवचन भक्ति नामक भावना है।

(१४) मन वचन कायकी शुभाशुभ क्रियाओं को योग कहते हैं। इन ही योगों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आश्रव होता है। इसलिये यदि आश्रव के द्वार ये योग रोक दिये जांय, तो संवर (कर्माश्रव बंद) हो सकता है। और संवर करने का उत्तमोत्तम उपाय सामायिक आदि षडावश्यक हैं, इसलिये इन्हें नित्यप्रति पालन करना चाहिये। एकासन से बैठकर अथवा खड़े होकर मन-वचन व काय के समस्त व्यापारों से रोक कर एकाग्रचित्त करना सो समभावरूप सामायिक है। अपने किये हुए दोषों को स्मरण कर उनपर पश्चात्ताप करना सो प्रतिक्रमण है। आगे के लिये यथा शक्ति दोष न होने देने के लिये नियम करना (दोषों का त्याग करना) सो प्रत्याख्यान है। तीर्थंकरादि अर्हंत व सिद्धों के

गुण कीर्तन करना सो स्तवन है। मन, वचन, काय शुद्ध करके चारों दिशाओं में चार शिरोनति और प्रत्येक दिशा में तीन तीन आवर्त ऐसे बारह आवर्त करके नमस्कार करना सो वंदना है। और किसी समय विशेष का प्रमाण करके उतने समय तक एकासन से स्थिर रहना तथा उतने समय के भीतर आए हुए समस्त उपसर्ग व परिषहों को सहन करना सो कायोत्सर्ग है। इस प्रकार विचार कर इन छहों आवश्यकों में जो सावधान होकर प्रवर्तन करता है सो आवश्यकापरिहाणि नामकी भावना है।

(१५) काल दोष से अथवा उपदेश के अभाव से सांसारिक जीवों द्वारा सत्य धर्म पर अनेक आक्षेप होने के कारण उसका लोपसा हो जाता है। धर्म के लोप होने से जीव धर्म रहित होकर संसार में नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। इसलिये ऐसे २ समयों में येनकेनप्रकारेण समस्त जीवों पर (जिन) धर्म का प्रभाव प्रगट कर देना सो ही प्रभावना है। और यह प्रभावना जिन धर्म के उपदेशों का प्रचार करके, शास्त्रों के अध्ययन वा अध्यापन से, विद्वानों की सभायें कराने से, अपने सदाचरण के कारण से, लोकोपकारी कार्य करनेसे, दान देनेसे, सत्य व्यवहारसे, संयम-नियम व तपादिक करने से होती है। ऐसा समझकर यथाशक्ति प्रभावनोत्पादक कार्योंमें प्रवर्त्तना सो मार्ग प्रभावना नामक भावना है।

(१६) संसारमें रहते हुए जीवोंको परस्परकी सहायता व उपकारकी आवश्यकता रहती है, ऐसी अवस्था में यदि निष्कपट भाव से अथवा प्रेमपूर्वक सहायता न की तो

३२

परस्पर यथार्थ लाभ पहुँचना दुर्लभ ही है, इतना ही नहीं किन्तु परस्पर के विरोध से अनेकानेक हानियां होना संभव है और हो भी रही हैं। इसलिये यह परमावश्यक कर्तव्य है कि प्राणी परस्पर (गाय का अपने बछड़े पर जैसा निष्कपट और गाढ़ प्रेम होता है वैसा ही) प्रेम करें। विशेष कर साधर्मियों के संग तो कृत्रिम प्रेम न करें। ऐसा विचार कर जो अपना निष्कपट व्यवहार साधर्मियों तथा प्राणी मात्र से रखते हैं उसे प्रवचन वात्सल्य भावना कहते हैं।

इन भावनाओं को अंतःकरण से चिंतवन करने तथा तदनुसार प्रवर्तन करने का फल तीर्थंकर नाम के कर्म के आश्रव का कारण है। इस प्रकार भावनाओं का स्वरूप कहकर अब व्रत की विधि कहते हैं:—

भादों, माघ और चैत्र (गुजराती श्रावण, पौष और फाल्गुण) वदी १ से भादों, माघ, चैत्र सुदी १ तक, मास में (एक वर्ष में तीन वार) पूरे एक एक मास तक व्रत करना चाहिये। इन दिनों में तेला वेला आदि उपवास करे। अथवा नीरस, एक रस ऊनोदर आदि एक भुक्त करे, अंजन, मंजन, वस्त्रालकार विशेष धारण न करे, शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) रक्खे, नित्य षोडशकारण भावना भावे और यंत्र बनाकर पूनाभिषेक करे, त्रिकाल सामायिक करे और (ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, सवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधु समाधि, वैय्यावृत्यकरण, अर्हंतभक्ति,

आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति,प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणमार्गप्रभावना, प्रवचनवात्सल्यादि षोडशकारणेभ्यो नमः)। इस महामंत्र का दिन मे तीनवार १०८ एकसौ आठ आठ जाप करे। इस प्रकार इस व्रत की उत्कृष्ठ सोलह वर्ष, मध्यम ५ अथवा दो वर्ष और जघन्य १ वर्ष करके यथाशक्ति, उद्यापन करे-अर्थात् सोलह उपकरण मन्दिरजीमें भेंट दे और शास्त्रदान करे,विद्यादान करे,शास्त्र भंडार खोले, सरस्वती मन्दिर बनावे,उपदेश करावे। इत्यादि, यदि द्रव्य खर्च करने की शक्ति न हो तो द्विगुणित व्रत करे। इस प्रकार ऋषिराज के मुख से व्रत की विधि सुनकर कालभैरवी नामकी उस ब्राह्मण कन्याने षोडशकारणव्रत उत्कृष्ट रीति से पालन किया, तथा भावना भाई, और उद्यापन किया, पीछे समाधि मरण कर स्त्रीलिंग छेदकर सोलहवें (अच्युत) स्वर्ग में देव हुई, वहा से बाइस सागर आयु पूर्ण कर वह देव, जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र संबधी अमरावती देश के गंधर्व राजा श्रीमन्दिर की रानी महादेवी के सीमंधर नामका तीर्थंकर पुत्र हुआ। सो योग्य अवस्था को प्राप्त होकर राज्योचित सुख भोग जिनेश्वरी दिक्षा ली- और घोर तपश्चरणकर केवलज्ञान प्राप्त करके बहुत जीवों को धर्मोपदेश दिया, तथा आयु के अंत में समस्त अघातिया कर्मों का भी नाश कर निर्वाण पद प्राप्त किया। इस प्रकार इस व्रत को धारण करने से काल भैरवी नाम की ब्राह्मण कन्या ने सुरनर के सुख भोगकर मोक्ष सुख प्राप्त किया तो अन्य जीव इस व्रत को पालन करें तो अवश्य ही उत्तम फल की प्राप्ति होगी।

३५

पोडस कारण व्रत धरो, कालभैरवी सार।
सुरनर के सुख 'दीप' लह, लहो मोक्ष अविकार ॥१॥

सोलहकारण भाषा पूजा।

अडिल्ल — सोलह कारण भाय, तीर्थंकर जे भये।
हरषे इन्द्र अपार, मेरु पें ले गये ॥
पूजा करि निज धन्य, लख्यो बहु चावसो।
हमहू षोड़शकारण, भावें भाव सों।

ॐ ह्री दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणनि ! अत्रावतरतावतरत। संवौषट्,
ॐ ह्री दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणानि ! अत्र तिष्ठत तिष्ठत। ठः ठः।
ॐ ह्री दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणानि ! अत्र ममसन्निहितानि भवत। भवत। वषट्

कंचन झारी निमल नीर। पूजों जिनवर गुन गम्भीर।
परमगुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥
दरश विशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु होय ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्यो। जन्म मृत्यु विनाशनाय जलंनिर्वपामीतिस्वाहा।

चन्दन घसों कपूर मिलाय । पूजों श्री जिनवर के पाय ।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरश विशु० ॥ २ ॥
ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्यः संसारताप विनाशनाय चन्दननिर्वपामीति स्वाहा ।
तन्दुल धवल सुगन्ध अनूप । पूजों जिनवर तिहुँ जग भूप ।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ३ ॥
ॐ ह्री दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्योऽअक्षयपद प्राप्तये अक्षतान् निर्वपामिति स्वाहा ।
फूल सुगन्ध मधुप गुञ्जार । पूजों जिनवर जग आधार ।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ४ ॥
ॐ ह्री दर्शनविशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्यः कामवाण विध्वंशनाय पुष्पंनिर्वपामीति स्वाहा ।
सद नेवज बहु विधि पकवान । पूजौं श्री जिनवर गुणखान ।
परमगुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ५ ॥
ॐ ह्री दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यः क्षुधा रोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।
दीपक जोति तिमिर छयकार । पूजू श्री जिन केवल धार ।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ६ ॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोड़शकारणेभ्यो मोहान्धकारविनाशनायदीपन्निर्वपामीति स्वाहा ।
अगर कपूर गन्ध शुभ खेय । श्री जिनवर आगें महकेय ।

परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि षोड़शकाणेभ्यो अष्ट कर्म दहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ।

श्री फल आदि बहुत फलसार । पूजौं जिन वाछित दातार ।

परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्यो मोक्ष फल प्राप्तये फलं निर्वपामिति स्वाहा ।

जल फल आठों दरब चढ़ाय । 'द्यानत' वरत करों मन लाय ।

परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ दरशवि० ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्योऽनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला ।

दोहा—षोड़शकारण गुण करै, हरै चतुर गति वास ।
पाप पुण्य सब नाश कै, ज्ञान भान परकाश ॥

चौपाई [१६ मात्रा]

दरश विशुद्ध धरैं जो कोई । ताको आवागमन न होई ।
विनय महा धारे जो प्रानी । शिववनिता की सखी बखानी ॥ २ ॥
शील सदा दृढ़ जो नर पाले । सो औरन की आपद टाले ॥

ज्ञानाभ्यास करै मन माहीं । ताके मोह महातम नाहीं ॥ ३ ॥
जो संवेग भाव विसतारै । सुरग मुकति पद आप निहारै ॥
दान देय मन हरष विशेखै । इह भव जस परभव सुख देखै ॥ ४ ॥
जो तप तपै खपै अभिलाषा । चूरै करम शिखर गुरु भाषा ॥
साधु समाधि सदा मन लावै । तिहुँ जग भोग भोगि शिव जावै ॥ ५ ॥
निशदिन वैयावृत्य करैया । सो निहचै भव नीर तिरैया ॥
जो अरहन्त भगति मन आनै । सो जन विषय कषाय न जानै ॥ ६ ॥
जो आचारज भगति करै है । सो निर्मल आचार धरै है ॥
बहुश्रुतवन्त भगति जो करई । सो नर सम्पूरण श्रुति धरई ॥ ७ ॥
प्रवचन भगति करै जो ज्ञाता । लहै ज्ञान परमानंद दाता ॥
षट आवश्य काल जो साधै । सो ही रत्नत्रय आराधै ॥ ८ ॥
धरम प्रभाव करै जो ज्ञानी । तिन शिवमारग रीति पिछानी ॥
वात्सल्य अंग सदा जो ध्यावै । सो तीर्थंकर पदवी पावै ॥ ९ ॥

दोहा—एही सोलह भावना, सहित धरै व्रत जोय ।
देव इन्द्र नर वंद्य पद, द्यानत शिवपद होय ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि षोड़शकारणेभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

३६

अथ श्री षोडशकारण संस्कृत पूजा ।

ऐन्द्रं पदं प्राप्य परं प्रमोदं धन्यात्मतामात्मनि मन्य मानः ।
दृक्शुद्धि मुख्यानि जिनेन्द्र लक्ष्म्या महाम्यहं षोडशकारणानि ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण अत्रावतरावतर संवौषट् । (आह्वाननम्)
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । (स्थापनम्)
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण अत्र मम सन्निहिता भवभव वषट् (सान्निधीकिरणम्)

[स्थापना के पश्चात् किसी प्रति में प्रथमाष्टक है और किसी प्रति में द्वितीयाष्टक लिखा हुआ है, इसलिये जहां पर जो अष्टक पढ़ा जाता हो वहां पर वही अष्टक पूजक जन पढ़ा लिया करें—जयमाला दोनों की एकसी है ।]

[प्रथम अष्टक]

गङ्गादि तीर्थोद्भववारि पूरै,-स्तापाप हारैर्घनसार सारैः ।
तीर्थङ्कर श्री सुख साधकानि, यजे मुदा षोडशकारणानि ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि षोडश कारणेभ्यो [दर्शनविशुद्धये १, विनयसम्पन्नतायै २,

निरतिचारशीलव्रताय ३, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाय ४, संवेगाय ५, शक्तितस्त्यागाय, ६ शक्तितस्तपसे ७, साधुसमाधये ८, वैयावृत्यकरणाय ९, अर्हद्भक्तये १०, आचार्यभक्तये ११, बहुश्रुत भक्त ये १२, प्रवचनभक्तये १३, आवश्यकापरिहाणये १४, मार्गप्रभावनाये १५, प्रवचन वत्सलत्वाय १६,] जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

रसेन सच्चन्दन जेन सार, कर्पूर गौरेण मनोहरेण।

तीर्थङ्कर श्री सुखसाध कानि, यजे मुदाषोडशकारणानि॥

ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो संसारताप विनाशनायचन्दन निर्वपामीतिस्वाहा।

प्रफुल्ल कुन्देन्दु करावदातैः, शाल्यक्षतैरक्षत सिद्धि लब्धौ।

तीर्थङ्कर श्री सुख साध कानि, यजे मुदा षोडशकारणानि॥ ३॥

ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो ऽक्षय पदप्राप्तये ऽक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।

कुन्दैरमन्दैः शुचि सिन्दुवारैः, सत्पारि जातैस्सरसीरुहैश्च।

तीर्थङ्कर श्री सुख साध कानि, यजे मुदा षोडशकारणानि॥ ४॥

ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो काम वाण विध्वंशनाय पुष्प निर्वपामीतिस्वाहा।

पक्वान्नशाल्योदन पाय साद्यै,-नैवेद्यकैःकाञ्चनभाजनस्थैः॥

तीर्थङ्कर श्री सुख साधि कानि, यजे मुदा षोडशकारणानि ॥ ५ ॥
ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीतिस्वाहा ।

प्रसृत्वरध्वान्त हरैरुदारै-,र्दीपैर्लसत्केवललब्धि हेतोः ।
तीर्थङ्कर श्री सुखसाधि कानि, यजे मुदा षोडशकारणानि ॥ ६ ॥
ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो मोहान्धकारविनाशनायदीपंनिर्वपामीति स्वाहा ।

धूपोद्गमा वासित दिग्विभागै, र्धूपैर्भवभ्रान्ति विनाशनाय ।
तीर्थङ्कर श्री सुखसाधिकानि, यजे मुदा षोडश कारणानि ॥ ७ ॥
ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो ऽष्ट कर्म दहनाय धूपं निर्वपामीतिस्वाहा ।

नारंग पूगीफल मातुलिङ्गैः, श्रीमद्भिरामैः कदली फलैश्च ।
तीर्थङ्कर श्री सुख साधकानि, यजे मुदा षोडशकारणानि ॥ ८ ॥
ॐ ह्रीं दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो मक्ष फल प्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

भक्ति प्रह्वसुरेन्द्र संस्तुतमिदं तीर्थङ्कराणां पदं ।
लब्धुं वाञ्छति यो विचार चतुरस्संसार भीताशयः ।

श्रीमद्दर्शनशुद्धिभूरिविनयज्ञानव्रतादीन्यलम्
भक्त्या षोडशकारणानि स नरः संपूज्य चाराधयेत् ॥ ६ ॥

ओंह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्योऽनर्घपद प्राप्तयेऽर्घ्यंनिर्वपामीतिस्वाहा ।

[अथद्वितीयाष्टकम्]

सुवर्णभृङ्गारविनिर्गताभिः, पानीयधाराभिरिमाभिरुच्चैः ।
दृक्शुद्धिमुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, महाम्यहं षोडशकारणानि ॥१॥ जलम्
श्रीखण्डपिण्डोद्भव चन्दनेन, कर्पूर पूरैः सुरभीकृतेन ।
दृकशुद्धिमुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, महाम्यहं षोडशकारणानि ॥२॥ चन्दनम् ।
स्थूलैरखण्डैरमलैः सुगन्धैः, शाल्यक्षतैस्सर्वजगन्नमस्यैः ।
दृक्शुद्धिमुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, महाम्यहं षोडशकारणानि ।३। अक्षतम् ।
गुञ्जद्विरेफैः शतपत्रजातीसत्केतकीचम्पकमुख्यपुष्पैः ।
दृक्शुद्धि मुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, यजे मुदा षोडशकारणानि ।४। पुष्पम् ।
नवीन पक्वान्न विशेषसारैर्नानाप्रकारैश्चरुभिर्वरिष्ठैः ।

दृक्शुद्धिमुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, यजे मुदा षोडशकारणानि ।५। नैवेद्यम् ।

तेजोमयोल्लासिशिखैःप्रदीपै-र्दीप प्रभैर्ध्वस्ततमोवितानैः ।

दृक्शुद्धिमुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, यजे मुदा षोडशकारणानि ।६ दीपम् ।

कर्पूरकृष्णा गुरुचूर्ण रूपैर्धूपै-र्हुताशाहुति दिव्यगन्धैः ।

दृक्शुद्धि मुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, यजेमुदा षोडशकारणानि ।७। धूपम् ।

सन्नालिकेरक्रमुकाम्रबीज, पूरादिभिस्सारफलै रसालैः ।

दृक्शुद्धि मुख्यानि जिनेन्द्रलक्ष्म्या, यजे मुदा षोडशकारणानि ।८। फलम् ।

पानीयचन्दनरसाक्षत पुष्पभोज्य,सद्दीधूप फलकल्पितमर्घपात्रम् ।

आर्हन्त्यहेतवमल षोडशकारणाना, पूजाविधौ विमलमङ्गलमातनोतु।९।अर्घम् ।

जयमाला ।

भवभमणणिवारण, सोलहकारण पयडमि गुणगणसायर

पणविवि तित्थंकर, असुहखयंकर केवलणाणदिवायर ॥१॥

दिढ धरहु पढम दसणविसुद्धि । मण वयण काय विरइयतिसुद्धि ॥

माछंडहु विणऊ चउप्पयारु । जो मुत्तिवरंगणहियय हारु ॥२॥

अणुदिणु परिपालहु सीलभेउ । जो भत्ति हरइ संसारहेउ ।
णाणोपयोगि जो कालु गमइ । तसु तणिय कित्ति भुवणवलि भमइ ॥३॥
संवेउचाउजे अणुसरंति । वेयेण भवएणउ ते तरंति ।
जे तउ तवंति वारह पयार । तेसग्गिसुरेंदह घिहय सार ॥४॥
जो साहुसमाहि धरंतु थक्कु । सोण हवइ कालमुहे धवक्कु ।
जो जाणइ वैयावच्चुकरणु । सो होइ सव्वंदोसाण हरणु ॥५॥
जो चिंतइ मणि अरहंतु देउ । तसु विसयहणंतह कवण खेउ ।
पवयणहं सरिसुगुरु जेणमंति । चउगइ संसारुण ते भमंति ॥६॥
बहुसुयह भक्ति जे णर करंति । ते अघउ रयणत्तय धरंति ।
जो छह आवासहं चित्त देइ । सो सिद्धिपंथु सहसत्ति लेइ ॥७॥
जे मग्गपहावण आयरंति । ते अहमिंदत्तणु संभवंति ।
जे पवयणकज्ज समत्थ हुंति । तह कामजिणंतह कवण भंति ।
जे वच्छलस्स कारणु वहंति । तेतित्थयरत्तउ पउ लहंति ॥८॥
[घत्ता] इय सोलहकारण, कामवियारण, जे धरंति वयसीलधरा ।
ते दिवि अमरेसुर, पुहमि णरेसुर, सिद्धिवरंगण हिय य हरा ॥९॥
इति श्री षोडशकारण संस्कृत सामान्य पूजनं समाप्तम् ।

[अथ श्री रयधू कविकृत]

प्राकृत षोडशकारण समुच्चय पूजा ।

यदा यदोप वासःस्यादाकर्यन्ते तदा तदा ।
मोक्ष सौख्यस्य कर्तृणि कारणान्यपि षोडशः ॥
ॐ ह्रीं श्रीषोडशकारणयन्त्र कार्णिकोपरि पुष्पाञ्जलिं क्षेपयामि ।

॥ अथाष्टकम् ॥

पोमदहादो णिग्गय, सुरसरिसलिलेण घुसण मिस्सेण ।
सोलहकारण जंतं, तेणामहामीह भावेण ॥ १ ॥ जलम् ॥
सिरिखंड चंद कुंकुम, रसभरि कलिलेण कणयवरणेण ।
अच्चम्मिजंतमग्गं, विलेव यामीह जंतमवि सुद्धम् ॥ २ ॥ चन्दनम् ॥
ससिकिरण सारणि सुब्भहिं, अक्खय अक्खेहिं अक्खसुह हेदु ।
सोलहकारण जंतं, समच्चयामीह भावेण ॥ ३ ॥ अक्षतम् ।
मंदार कुंद चंपक, मालामालेहिं अलिख कुलाहिं ।

अच्चन्मि जंत मणुम्ने, दुग्गडगमणम्म दलियं तिग्नं ॥ ४ ॥ पुष्पम् ॥
सज्जेह अज्जपकहि, नित्तपमोएहिं पेवराहिं ।
णेविज्जेहि अहंपिय, दुग्गगगमणस्स कारणं अच्चे ॥ ५ ॥ नैवेद्यम् ॥
कप्पूर वत्ति कलिहिं, दीवावलिएहिं दिसिपयासेहि ।
केवलणाण कराहिं, तरणिणिहेहिं जंतमच्चेहं ॥ ६ ॥ दीपम् ॥
सिल्हारस अयराइय, दव्वविमिस्सेण सरणु धूवेणु ।
उवयामि जंतं सुहसय, सिद्धिपसिद्धीरा ॥ ७ ॥ धूपम् ॥
नारंगपुंग चोचा, मलक कपित्थेहिं चित्तमुददेहि ।
फलहिं फलसिधिदेहि, अच्चमित्रसुदुणकारणं महिया ॥ ८ ॥ फलम् ॥
जल गंधाक्खय कुसुमइ, णेवय सद्दीपधूप फलजुत्ति ।
कुसुमांजलि पुणु जुत्थमि, सुजंतरापस्स पुव्वमणिदस्स ॥ ९ ॥ अर्घं ॥

जयमाला

णमोणमसोलह कारण जंत, णमोणिल्दंसण मत्त महंत ।

णमो भवसायर तारण योय, णमो खयणीय जरामरणोय ॥ १ ॥
णमो जिणजम्मूण ओसहसार, णमो जिण दंसिय सिवहर हार ।
णमो विसयाहि रउद्ध पवीण, णमो कर लंवण दाणपवीण ॥ २ ॥
णमो मणमक्कण वंधण पास, णमो पण इंदिय दारुहु यास ।
णमो मयमोह पदंसिय वेर, णमो तिजयंतह भाविय केर ॥ ३ ॥
तुम विणु आसिभवएण विखिएणु, अणंतह दुक्खहिं भवभव भिएणु ।
अहो वय सोलहकारण सामि, पयेणहि मज्झजि सासय ठाण ॥ ४ ॥
ॐ ह्रीं श्री षोडशकारण यन्त्राय जयमालार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ श्रीमद्रयधु कवि विरचिता।

षोडशकारण जयमाला -भाषा टीका।

[१] अथ दर्शनविशुद्धि भावना।

असत्य सहिता हिंसा मिथ्यात्वं च न दृश्यते।
अष्टाङ्गं यत्र सम्यक्त्वं दर्शनं तद्विशुद्धिदम् ॥ १ ॥

अर्थ—जहा असत्य सहित हिंसा और मिथ्यात्व नहीं दिखलाई देता और अष्ट अंग सहित सम्यक्त्व विद्यमान है वहां विशुद्धता को देने वाला वह सम्यग्दर्शन होता है।

भावार्थ—जो कोई भव्यजीव स्थूल वा सूक्ष्म रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पांच पाप। तथा एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान इन पांच मिथ्यात्वों से रहित होकर निःशंकितत्व आदि सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का पालन करता है उसी भव्यपुरुष में वह निर्मलता को देने वाला (अतीचार रहित). सम्यग्दशन अर्थात् दर्शन विशुद्धि नामक कारण होता है।

" ओं ह्रीं दर्शनविशुद्धये नमः। "

४६

[अर्थ—यहां पर इस मन्त्र से जाप देना चाहिये तथा इस मन्त्र के आगे " जलं निर्वपामीति स्वाहा " इत्यादि वाक्य कह कर जलादि अष्ट द्रव्य क्रमशः चढ़ाने चाहिये । यदि पृथक २ अष्ट द्रव्य न चढ़ाना हो तो " अर्घं निर्वपामीति स्वाहा " ऐसा कह कर एक अर्घ ही चढ़ा देना चाहिये ।] घत्ता—

पंचमगइकारण दुगइणिवारणं पणदह कारणकारणु ।
भावहु भवि यह मणि भवदुहतमहणि दंसणविसुद्धि भवि यह सरणु ॥१॥

अर्थ—भोभव्यजनो ! तुम मुक्ति की प्राप्ति में कारणभूत, नरकादि दुर्गतियों से बचाने वाले, आगे होने वाले विनय सम्पन्नतादि तीर्थंकरत्व प्रकृति बंध के शेष १५ कारणों की उत्पत्ति में प्रधान कारण, ससार के दुःख रूपी अधकार का नाश करने के लिये प्रकाश मान रत्न के समान और भव्यजीवों के लिये शरणभूत ऐसे दर्शनविशुद्धि नामक कारण की निजमन में भावना भावो ॥ १ ॥

संकाकंखाविदिगंछचित्त । दंसण विसुद्धि पावन पवित्त ।
णिस्सूढत्ते उवगूहणेण । ठिदिकरणे वच्छल्ले गुणेण ॥ २ ॥

अर्थ—शका (जिनमत में शंका करना), कांक्षा (धर्म के फलों से सांसारिक सुखों की वांछा करना), और विचिकित्सा (रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर में ग्लानि

करना), इन तीनों दोषों के त्याग रूप निःशंकित, निःकांक्षित और निर्विचिकित्सत अंग का पालन करने से पवित्र और पावन (कर्म मल से रहित करने वाली) दर्शनविशुद्धि होती है। निर्मूढत्व (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की सेवा का त्याग), उपगूहन (अज्ञान, प्रमाद, अशक्तता आदि से किये हुये साधर्मी के दोषों को छिपाना), स्थितिकरण (धर्म से चिगते हुये को उपदेशादि द्वारा धर्म में स्थिर करना), वात्सल्य (सहधर्मियों में गो और वत्स की प्रीति के समान निःस्वार्थ अनुराग रखना) इन गुणों से दर्शन विशुद्धिहोती है ॥ २ ॥

सुपहावणाय दंसणविसुद्धि। मूढत्तय वज्जियताह सुद्धि।
छब्भेय अणायदणाण चाय। दंसण विसुद्धि वज्जिय पमोय ॥३॥

अर्थ—प्रभावना (अज्ञानादि को नाश कर जिन धर्म के महत्व को दिखलाने) से दर्शनविशुद्धि होती है। देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, और लोकमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओं के त्याग से सम्यग्दर्शन की शुद्धि होती है। प्रमाद को छोड़कर कुगुरु, कुदेव, कुधर्म इन तीनों और तीनों के सेवकों की प्रशंसा आदि करने रूप छह अनायतनों के त्याग से दर्शन विशुद्धि होती है ॥ ३ ॥

णव जीवहु जाइ सहाउ होइ। कम्मह परिणइ इह भहिण जोइ।
बउलपि चंडाल कुलेणजुत्तु। सुगहिं गउ कुलहुण गव्वजुत्तु ॥ ४ ॥

अर्थ—जाति, यह जीव का स्वभाव नही है किन्तु कर्म की परणति है। अर्थात् ाति कर्म जनित है, ऐसा योगी (मुनि) कहते हैं। इसलिये जाति का (माता के पक्ष का ार्थात् नाना मामा की तरफ़ का) मद न करना चाहिये। कुल रहित (नीच कुली), विकल (अगहीन) चांडाल भी अहिंसा व्रत का पालन कर स्वर्ग में चला गया, ऐसा जान कर कुल (पितृपक्ष का अर्थात् पिता पितामह आदि की तरफ का) गर्व नहीं करना चाहिये। भावार्थ—धर्म सेवन करने से नीच कुली भी स्वर्ग में चला जाता है। और पाप करने से उच्च कुली भी नरक में जाता है, इसलिये कुल का गव न करना चाहिये ॥ ४ ॥

ईसत्तु चउग्गइ भमण हेउ। णिग्गंथ तिलोयहु होइ भेउ।
रूबउ सरूप भावहु विहाण। तह गब्बुकरइ किह मुणिपसाण ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रभुपना चारों गतियों में परिभ्रमण का कारण है। अर्थात् सम्पदा के साथ २ आरम्भ परिग्रह बढ़ेगा और उससे ससार में परिभ्रमण होगा। इसलिये निर्ग्रंथपना ही तीन लोक में ध्यान करने योग्य है। ऐसा विचारकर प्रभुना, ऐश्वर्य का मद न करना चाहिये। रूप का स्वरूप भी अवश्यमेव विनाशशाली है, मुनीश्वर ऐसा चितवन करो। मुनीश्वर उस रूप का गर्व कैसे कर सकते हैं ? भावार्थ–जब शरीरही क्षण भगुर है तो शरीराश्रित रूप के विनाश होने में क्या संशय है। यह विचार कर रूप का गर्व न करना चाहिये।

सुउ जाणंतिवि सिज्झइ ण भव्व । एयादशांग तह कथण गव्व ।
दंसण वज्जिय तउ अहिलु जेणि । तव गव्वु ण किज्जय भव्वतेण ॥६॥

अर्थ-हे भव्य ! एकादशांग पर्यन्त श्रुति ज्ञान के जानने वाले भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होते । इस कारण ज्ञान में गर्व कैसे किया जावे ? अर्थात् ज्ञान का मद न करना चाहिये । सम्यग्दर्शन रहित तपश्चरण को निष्फल जानकर हे भव्य ! तप का गर्व न करना चाहिये ।

कम्मारि जिणिज्जहिं जिहिं वलेण । तह गव्व जुत्त णउ किय मलेण ।
जेहिं जि विण्णाणइ भवि भमेइ । अप्पउ चउगइ जोणिहि दमेइ ॥७॥
ते सयलु जि कुविण्णाणय हवन्ति । तह गव्वण मणि मुणिवर वहंति ॥

अर्थ-जिस आत्मीक वल से कर्म रूपी शत्रु जीते जाते हैं, उस वल के कुछ अंश को पाकर उसमें गर्व करना उचित नहीं है । क्योंकि यह गर्व सम्यग्दर्शन को मलिन करता है । जिन विज्ञानों से संसार में परिभ्रमण होता है, और जो विज्ञान आत्मा को नरकादि चारों गति सम्बन्धी चौरासी लाख योनि में दण्ड देते हैं, वे सब विज्ञान (गीत, नृत्य, वादित्रादि कलाओं का जानना) कुविज्ञान हैं, इसलिये मुनीश्वर इन कुविज्ञानों का गर्व भी हृदय में नहीं धारण करते ।

पणवीसदोस वज्जियति सुद्ध । भाइय परम दंसण विसुद्ध ॥ ८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका आदि आठ दोष, तीन मूढता, छह अनायतन और आठ मद इन भेदोंरूप २५ दोषों रहित परमदर्शन विशुद्धकारण का ध्यान करना चाहिये।

दंसण विसुद्धि पढमंगउ जि । पूज करे पिणु दुरिय महू ।

अग्घु जि उत्तारइ थुइ सहिय । सो सम्माणइ सिद्धि बहू ॥ ६ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव पापों के मथनेवाले (नाश करने वाले) दर्शन विशुद्धि नामक प्रथम कारण की पूजा करके उसके लिये स्तुति सहित अर्घोत्तारण करता है वह पुरुष सिद्ध बधू का सम्मान करता है। अर्थात् मुक्ति रुपी स्त्री को वरने के लिये प्रयत्न करता है।

ओं ह्रीं दर्शनविशुद्धये महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

—:—

(२) अथ विनय सम्पन्नता भावना ।

दर्शन ज्ञान चारित्र तपसां गत्र गौरवम् ।

मनोवाक्काय संशुद्धया सा व्रता विनयस्थितिः ॥ १ ॥

अर्थ—जहां सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप का मन, वचन काय की शुद्धता पूर्वक,

सत्कार-पुरस्कार विद्यमान है उसी में वह विनय स्थिति कही गई है। भावार्थ-त्रियोग की शुद्धि से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप का आदर करनेवाला भव्यजीव ही विनय सम्पन्नता नामक द्वितीय कारण का धारक कहलाता है।

ओं ह्रीं विनय सम्पन्नताये नमः।

दंसण णाण चरण विणऊ। तव गुण विसुद्धह भव दलणु।
सहु भत्तिए-महियलणिहिवि सरु। किज्जइ दुह वण खय जलणु ॥१॥

अर्थ-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र का विनय और तप गुण से विशुद्धों का (उत्तम तप के धारक मुनियों का) विनय, ससार का नाशक है। तथा दुख रूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है। इसलिये इस विनय को भूमितल में स्थापित कर स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् पूजनादि सत्कार पूर्वक हृदय में धारण करना चाहिये॥ १ ॥

विणउवि भवतरु जालणु किसाणु। विणउजि तिलोय मज्झह पहाणु।
विणउवि जिणसासणसयलसूला। विणउजि मिच्छाइट्ठियहिं सूल ॥ २ ॥

अर्थ-विनय, संसार रूपी वृक्ष को जलाने के लिये अग्नि के समान है। विनय, तीनों लोकों में मुख्य है। विनय, ही जैन मत का सम्पूर्ण मूल है। अर्थात् इस विनय के आधार ही

जैन धर्म की स्थिति है। और विनय ही मिथ्यामतियों के लिये शूल के समान है।

विणए विणु माणुस चम्मरुक्ख। माणग्गिय डज्झिवि सहइ दुक्ख।
तं विणउ देव गुरु सत्थ होइ। दंसण णाणहु विभणंति जोइ ॥३॥
चारित्त विणउ संजम सराउ। अप्पाण विणउ भावहु अभाउ॥

अर्थ—विनय के बिना मनुष्य जन्म रूपी चमड़े का वृक्ष, मानरूपी अग्नि से जला हुआ नाना प्रकार के सांसारिक दुःख सहता है। वह विनय, देव, गुरु, शास्त्र सम्यक्-दर्शन और ज्ञान की की जाती है ऐसा योगीश्वरों ने कहा है। संयम में अनुराग करना चारित्र का विनय है। इन विनयों के सिवाय अपनी आत्मा के विनय की भी स्थिर चित्त से भावना भावो।

णउ रायदोष गंजियइ चित्तु। भाविज्जइ खणि खणिजिउ चिमित्तु ॥४॥
मा चउ गइ भमय विसुद्धजीव। जहिएरिस चिंतइ भव्वजीव॥
तंणिच्चय विणउ पउत्तु एहु। सिवणयर पंथ संवल मुणेहु ॥५॥

अर्थ—जो रागद्वेष से चित्त को मलीन न करके प्रति समय चिन्मूर्त्त (ज्ञान स्वरूप) आत्मा का ध्यान किया जाता है और जहां भव्य पुरुष ऐसा चितवन करते हैं कि "कर्म मल

रहित शुद्धात्मा चतुर्गति में भ्रमण नहीं करता है वह निश्चय विनय कहा गया है।" इस निश्चय विनय को मोक्षरूपी नगर के मार्ग के लिये शम्बल (फलेवा) जानना चाहिये ।

विणए विणु घडिय मजाउ महु । इम भणंति विणयंगु णारु ॥
जो महिवि अग्घु उद्धरइ इहु । सो धारहि सिव रमणि करु ॥ ६ ॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष "विनय के विना एक घड़ी भी न जाने पावे" ऐसा कहता है और विनय नामक अंग की पूजा करके उसके अर्थ अर्घोत्तारण करता है वह मुक्तिरूपी स्त्री का पाणिग्रहण करता है।

ओं ह्री विनय सम्पन्नतायै नमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥

(३) अथ निरतिचारशीलव्रत भावना ।

अनेक शील सम्पूर्णा व्रत पंचक संयुताः ।
पंच विंशति क्रिया यत्र तच्छीलव्रत मुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—क्रोध के त्याग आदि रूप शीलों से परिपूर्ण और अहिंसादि पांचव्रतों सहित, पच्चीस क्रियायें जिसमें हों वह शीलव्रत कहलाता है।

ओं ह्रीं निरतिचारशीलव्रताय नम. ।

५७

दुग्गइ दुह हारणु सुहगइ कारणु । जीवउ तव वय संजमह ।
सीलंगु तउज पालहु णमहु । मणु पवंगु चञ्चल मदह ॥ १ ॥

अर्थ—हे भव्यजनों ! दुर्गति के दुख को हरने वाला, शुभगति को देनेवाला तथा तप, व्रत और समय के जीवन के समान ऐसा जो निरतिचार शीलवन नामा तृतीय कारण है उसका पालन करो। उसके लिये नमस्कार करो और मनरूपी चंचल वंदर को दमन करो।

अइयारविवज्जिउ सुद्ध शीलु । पालहु खंचहु णिरु चित्तपीलु ।
माणुस देवी तर्यंच णारि, । छंडज्जइ मण वयतणु वयार ॥ २ ॥

अर्थ—हे भव्यो ! अतिचार रहित शुद्धशील को धारण करो। मनरूपी हाथी को निरन्तर खींचो (वश में करो) मनुष्यनी, देवी, तिर्यंचिनी इन तीनों स्त्रियों का मन, वचन, काय रूप प्रकारों अर्थात् तीनों योगों से छोडो।

आप्पणु असीलु कहवणु चलेइ । अणुहू णउ उवयेसं कलेइ ।
अवरहु कीरन्तहु कुगइभीउ, णउ अणुमोयइ थुणु भव्वजीउ ॥ ३ ॥

अर्थ—दुगति में जाने से डरनेवाला, शीलव्रत का धारक भव्यजीव, ब्रह्मचर्य

का नाश करनेवाली कथा को न तो स्वयम् कहता है, न दूसरे को ऐसी कथाओं के करने के लिये उपदेश देता है और न ऐसी कथा करनें वाले की अनुमोमना करता है।

अबला बाला पैच्छन्त सन्त। पुत्तीव वियाणइ मण महतन्त॥
जोवण करिन्द आरूढ सूढ। लायण्ण सलिल सव्वंग गूढ॥४॥
सम वयस णिये विणसस समाण। मण्णइ ण करइ सम्माण दाण॥

अर्थ—उदार चित्त के धारक सत्पुरुष, अल्प अवस्था की धारक स्त्रियों को देखकर अपनी पुत्री के समान जानते हैं और जोबनरूपी गजराज पर चढी हुई कामन्ध और लावण्य रूपी जल से सर्वांग सहित डूबी हुई अत्यन्त कान्तिमान शरीर की धारक स्त्री को बहिन के समान मानते हैं और उन का आदर सत्कार नहीं करते हैं।

सीलेतियसेसर पय णमंति। सीलेसिवउरणिब्भय गमंति॥ ५॥
सीलेणलंकिउ विगयरूउ। णत कुहउ विमोहइ सुक्ख भूऊ॥
मयणाविया रु पुणु सील चत्तु। त्थुत्थुकारिज्जइ सो णिरुत्तु॥ ६॥

अर्थ—शील के प्रभाव से इन्द्रादिक देव आकर चरणों में नमस्कार करते हैं। शील के प्रभाव से निर्भय होकर मोक्ष नगर में गमन किया जाता है। शीलरूपी भूषण को धारण करने वाला पुरुष रोगी, रूप रहित और कोढ़ी हो तो भी सुखरूपी राजा को अथवा

सुगमता से नरेन्द्रों को मोहित करलेता है। और शील रहित पुरुष कामदेव का अवतार हो तो भी उसको लोग निरन्तर थू थूकार करते हैं।

जं किय पयज्ज वय तवहु किंपि। अखिलिय पालिज्जइ भव्व तंपि ॥
तं पुणु भणंति सीलुजि रसीस। ससरूवहु खिसइरा गुरु गरीस ।७।

अर्थ—हे भव्यो! जो कुछ भी व्रत, तप को तू धारण करे उसको पूर्ण रीति से (अतीचार रहित) पालना चाहिये। क्योंकि ऋषीश्वर व्रतादिक के निरतिचार पालन को भी शील कहते हैं। और अपने स्वरूप से च्युत न होना भी मत्र में प्रधान निश्चय शील है।

सीलें सहु थोवउ पवरु फलु। णिप्फलु बहु वउ तेण विणु ॥
इम मुणि वितंजि सीलंग वरु। पुज्जहु अग्घइ तीस दिणु ॥ ८ ॥

अर्थ—शील सहित थोडा सा भी व्रतादिक का धारण करना अत्यन्त अधिक फल को देता है। और शील के विना धारण किये हुए बहुत से व्रतादिक भी निष्फल हैं। ऐसा विचार कर हे भव्य! इस शीलनामा तृतीय अंग की एक मास पर्यंत अर्घों से पूजा करनी चाहिये।

ओं ह्रीं निरतिचारशीलव्रताय नमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना।

काले पाठः समेध्यान शास्त्रे चिंता गुरौनतिः।
यत्रोपदेशना लोके शास्त्रे ज्ञानोपयोगिता ॥ १ ॥

अर्थ—जो योग्यकालमें शास्त्र की स्वाध्याय करना, सामायिक के समय में ध्यान करना, निरंतर शास्त्र का चिंतवन करना, निर्ग्रंथ गुरुओं में विनय करना और लोगों को धर्मोपदेश देना है वह अभीक्ष्णज्ञानोपयोगिता कहलाती है।

ओं ह्रीं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाय नम.।

अभीक्खण णाणो उग्गुगुणो। अष्ट पयारहिं महि महि वि ॥
पुणु अग्घुत्तारिज्जय विमलु। कुसुमंजलि अग्गयरिवविवि ॥ १ ॥

अर्थ—हे भव्यजनों! निरन्तर ज्ञानमें ही उपयोग रखना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग नामा गुण अर्थात् चौथा कारण है। इस को अष्ट प्रकार से (जलादि आठों द्रव्यों से) पूजा करके फिर अर्घोत्तारण करो और उसके आगे पुष्पांजलि क्षेपण करो।

जं खण खण चेयणु भाविज्जइ। तज्जि अभीक्खणणाण मुणिज्जइ॥
अहवा जं सु यत्थ अब्भासो। णिय सिस्साणं पुर उब्भासो॥ २॥

अर्थ—जो क्षण क्षण में आत्मा की भावना करना है सो निश्चय अभीक्ष्णज्ञान जानना चाहिये। अथवा जो शास्त्र और उसके अर्थ का अभ्यास करना तथा अपने शिष्यों के प्रति शास्त्र का कथन करना है वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

वक्खाणइ विरत्त चित्तंतरि। भावइ भावत्थो भावन्तरि॥
एहुविणाणो उग्गु पहिल्लउ। फेडिय विसयकसाय तिसल्लउ॥ ३॥

अर्थ—जो मन में विरक्त होकरके अर्थात् विना इच्छा के धर्मोपदेश देता है उसके ज्ञानोपयोग होता है। और जो आत्मा में स्थित होकर पदार्थों के स्वरूप का चिन्तवन करना है सो भी पांचों इंद्रियों के विषय क्रोधादिककषाय और माया, मिथ्या, निदान रूप तीन शल्यों को नाश करनेवाला ज्ञानोपयोग नामा प्रधान कारण है।

णाणाब्भासे मुणिथिरु थक्कइ। णाणंगे वियप्प गणु लुप्पइ॥
णाणाब्भासे सासण वड्ढइ। णाणाब्भासे असुहो हट्टइ॥ ४॥
णाणाब्भासे सुपहावण गुण। णिच्चय वट्टइ दलिय दुरियरिण॥

अर्थ—ज्ञान के अभ्यास करने से मन स्थिर होता है। ज्ञान के अभ्यास से राग–द्वेषादि रूप विकल्पों का समूह नष्ट होता है। ज्ञानाभ्यास से जिनमत की वृद्धि अर्थात् जैन धर्म की उन्नति व प्रभावना होती है। ज्ञानाभ्यास से पाप रूपी ऋण का नाश होकर सम्यग्दर्शन का प्रभावना नामा अष्टम अग निश्चय से वृद्धि को प्राप्त होता है।

इय गुणहिं अलङ्किउ अंगुवरु। तुरिउ समञ्चिवि अग्घु लई।
उत्तारिय गेहत्थ जिसधणु। भावइ समणुगि हत्थ जई॥ ६॥

अर्थ—उपरोक्त गुणों से शोभायमान जो यह अभोक्ष्णज्ञानोपयोग नामा तीर्थंकर प्रकृति बंध का चतुर्थ अंग (कारण) है, इसे जो धनाढ्य ग्रहस्थ हैं वे अर्घ लेकर पूजा करें और मुनि व गृहस्थ दोनों ही इस को निज मन में भावना भावें।

ओं ह्रीं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाय नमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ संवेग भावना।

पुत्र मित्र कलत्रेभ्यः संसार विषयार्थतः।
विरक्तिर्जायते यत्र स संवेगो बुधैः स्मृतः॥ १॥

अर्थ—जहां स्त्री, पुत्र, मित्रादि से–संसार से–पचेन्द्रिय के विषयों से–और धन से

६३

उदासीनता होती है उसे ज्ञानवालों ने संवेग कहा है। भावार्थ-जो भव्यजीव स्त्री, पुत्रादि से विरक्तता धारण करते हैं। उन्हीं को इस संवेग नामा पंचम कारण की प्राप्ति होती है।

ओं ह्रीं संवेगाय नमः।

वसुविह दव्वइ संवेइ गुणु। पुज्जइ कणयथाल धरिवि॥
अग्घुत्तारिज्जइ वयजु एण। भत्तीए कुसुमंजलि करवि॥ १॥

अर्थ—व्रत को धारण करनेवाले धर्मात्मा पुरुष को उचित है कि वह स्वर्ण के थाल में आठ प्रकार के द्रव्यों को रखकर उस द्रव्य से इस संवेग गुण की पूजा करें और अर्घोत्तारण करके भक्ति पूर्वक पुष्पांजलि क्षेपें।

जिणभासिय दहलक्खण सधम्म। रयणत्तय लक्खण विगय छम्म॥
सायारणयारय जो पहाण। दय जुत्ति वियंभिव जीवताण॥ २॥
ए रिसयधम्म जहं होउ राउ। संवेउ तंजि पभणय विराउ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए उत्तम क्षमादि रूप दशलक्षण धर्म में छल, कपट रहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म में, गृहस्थ (श्रावक) और मुनि इन दोनो में से मुख्यता को धारण करने वाले और दया की युक्ति से जीव रक्षा को प्रकाशित

करनेवाले धर्म में अर्थात् मुनि और श्रावकों के पालने योग्य अहिंसा धर्म में जहां पर अनु राग होता है उसी को श्री वीतरागदेव ने संवेग कहा है।

अहवत्थु सरू उपसत्थ धम्मु । केवल दंसण णाणेणरम्मु ॥ ३ ॥
तह रत्तु चित्तु संवेउ सिट्ठु । तहफल भाविज्जइ अइविमिट्ठु ॥

अर्थ—अथवा केवलदर्शन और केवलज्ञान से मनोहर निज स्वरूप के चितवन रूप वस्तु स्वभाव नामक प्रशंसनीय धर्म में चित्त का लगाना उत्तम आत्म संवेग है। इस संवेग का अत्यंत मधुर फल चिंतवन करना चाहिये।

हरिपडिहरि हलहर चक्कणाह । तित्थयरमुंडकेवलि अवाह ॥ ४ ॥
अमियासणु सुरवर तह सुरेस । अहमिंदालय वासिय विसेस ॥
एरस हवंति धम्महु फलेण । परभव आराहियणिम्मलेण ॥ ५ ॥
जिहिं मोउ विहिज्जइ तह फलम्मि । तं पुण संवेउ व धरि मणम्मि ॥

अर्थ—पूर्व जन्म में सेवन किये हुये निर्मल धर्म के फल से नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती, बाधारहित तीर्थंकर, मूढकेवली, अमृत का भोजन करने वाले देव, इन्द्र तथा इन्द्रों से भी अधिक सुख के धारक सर्वार्थसिद्धि में निवास करने वाले अहिमिंद्र होते हैं। और इस धर्म के फल में जो अनुराग का करना है वह भी संवेग है—इसको भी मनमें

६५

धारण करना चाहिये ।

साहम्मिय जणि मोउ, भोयभाव चइ ऊणणरु ।

तं संवेउ पणंगु गुणु, अग्घुत्तारय दुरयहरु ॥ ६ ॥

अर्थ—हे भव्यो ! साधर्मी पुरुषों में हर्ष को धारण करके विषय भोगों की इच्छा के त्याग पूर्वक इस संवेग नामक पचम कारण के लिये पापका नाश करनेवाला अर्घो त्तारण करो ।

ओं ह्री संवेगायनमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा

अथ शक्तितस्त्याग भावना ।

रत्नत्रय समाधारे पात्रे दानं चतुर्विधं ।

स्व शक्त्या विद्यते यत्र स त्यागो विबुधैः स्मृतः ॥१॥ *

---

* सभी प्रतियों में ' दान पात्रे तपश्चित्ते चतुर्दा दशधा परम् । स्वशक्त्याविधते यत्र सादान तपसो स्थितिः । " ऐसा पाठ है ओर इसमें शक्तितस्त्याग व शक्तितस्तप दोनों का एक साथ स्वरूप दिखलाया गया है। परन्तु इस श्लोक का उच्चारण करके त्याग व तप दोनों मेंसे किसी एक का मन्त्र पढना अनुचित प्रतीत होता है। इसलिये इस श्लोक के स्थान में दोनों जगह जुदा जुदा श्लोक दे दिया गया है।

धारण करना चाहिये।

साहम्मिय जणि मोउ, भोयभाव चइ ऊणणरु।
तं संवेउ पणंगु गुणु, अग्घुत्तारय दुरयहरु ॥ ६ ॥

अर्थ—हे भव्यो ! साधर्मी पुरुषों में हर्ष को धारण करके विषय भोगों की इच्छा के त्याग पूर्वक इस संवेग नामक पचम कारण के लिये पापका नाश करनेवाला अर्घों त्तारण करो।

ओं ह्रीं संवेगायनमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा

अथ शक्तितस्त्याग भावना।

रत्नत्रय समाधारे पात्रे दानं चतुर्विधं।
स्व शक्त्या विद्यते यत्र स त्यागो विबुधैः स्मृतः ॥१॥ *

* सभी प्रतियों में " दान पात्रे तपश्चित्ते चतुर्द्दा दशधा परम् । स्वशक्त्याविद्यते यत्र सादान तपसो स्थितिः । " ऐसा पाठ है और इसमें शक्तितस्त्याग व शक्तितस्तप दोनों का एक साथ स्वरूप दिखलाया गया है। परन्तु इस श्लोक का उच्चारण करके त्याग व तप दोनों मेंसे किसी एक का मन्त्र पढना अनुचित प्रतीत होता है। इसलिये इस श्लोक के स्थान में दोनों जगह जुदा जुदा श्लोक दे दिया गया है।

त्याग होता है। क्रोधादिक कषायों को और इन्द्रियों को जीतने से त्याग होता है। छह प्रकार के रसों में से इच्छानुसार रसों को छोडने से भी त्याग होता है, तथा याचना न करने से (किसी से कोई चीज न मांगने से) भी त्याग होता है। मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पों का नाश करने से त्याग होता है। और मोह का नाश करने से भी त्याग होता है।

जं धम्मक्खाणु कहेइ साहु। सावय पुरहु कय सुगइ लाहु ॥ ३ ॥
तं चाउवि जाणिज्जइ जणेहि। पालियउणिरु मुणिवर गणेहिं ॥

अर्थ—पुण्योपार्जन से सुगति का लाभ करने वाले मुनि, जो श्रावकों के आगे धर्मोपदेश करते हैं, वह भी मुनीश्वरों के समूह द्वारा निरन्तर पालने योग्य त्याग है-ऐसा धर्मात्मा पुरुषों को जानना चाहिये। भावार्थ—श्रावकों का धर्मोपदेश देना भी त्याग है और यह त्याग मुनियों की ही विशेषता से होता है।

उत्तम मज्झिम जहण्ण याहं। जिण समयभणियति पत्तयाहं ॥४॥
आहार पमुह चउदान ताहं। दिज्जइ भत्यि गुणगण जुयाहं ॥
दुहियं दिज्जइ अणु कंपणेण। तं चाउ होइ विकसिय मुहेण ॥५॥

अर्थ—श्री जिनागम में कहे हुए और सम्यग्दर्शनादि गुणों के समूह को धारण करने वाले ऐसे उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को अर्थात् उत्तम पात्र रूप मुनीश्वरों के अर्थ,

अर्थ—रत्नत्रय के धारक पात्र में जो शक्ति पूर्वक चार प्रकार का दान है वह शक्तितस्त्याग माना गया है। भावार्थ—जोभव्यजीव, निज शक्त्यनुसार, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चरित्र को पूर्ण अपूर्ण रीति से धारण करने वाले उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र केलिये आहार, औषधि, ज्ञान और अभय भेद से चार प्रकार का दान देता है वह शक्तितस्त्याग नामक षष्ठ कारण का धारक है।

ओं ह्रीं शक्ति तस्त्यागाय नमः।

चाउ.व सुपसिद्धउ छट्ठभऊ। अंगु समुज्झि.वि भत्तिय ए।
तहु उत्तारिज्जइ अग्घु पुणु। हणिवि तूर सम सत्तिय ए॥२॥

अर्थ—अत्यन्त प्रसिद्ध त्याग नामा छट्ठे कारण की भक्ति भाव से पूजन करके और मृदंगभेरी आदि सैकड़ों प्रकार के बाजे बजा करके अपनी शक्ति प्रमाण उसके लिये अर्घोत्तारण करो।

दो विह परिगह छंडेण चाउ। सकसायंदियदंडेण चाउ॥
चऊवि हवेइ रस चाइणेण। चाऊवि हवेइ अज्जायणेण॥२॥
चाउवि मण जाइवि अघणासि। चाउवि हवेइ मोहउ विणास॥

अर्थ—दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के आभ्यंतर परिग्रह को छोडने से

अथ शक्तितस्तप भावना

तपो द्वादशधा प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तर भेदतः ।
स्वशक्त्या क्रियते भव्यैः स्वर्ग मोक्ष फलप्रदम् ॥ १ ॥

अर्थ—स्वर्ग और मोक्ष रूपी फल को देने वाला तप, छह प्रकार के बाह्य और छह प्रकारके अन्तरंग भेदों से बारह प्रकार का कहा गया है। और भव्य पुरुष इसे निज शक्ति के अनुसार करते हैं।

ओं ह्रीं शक्तितस्तपसे नमः ।

घर आस पास छिंदण फरसु । देह सुक्खाँणासउ ॥
कोवीणाइवच्छहु चयणां । तं तउ कार दिव्वासणउ ॥ १ ॥

अर्थ—जो गृह सम्बधी तृष्णा रूपी फांसी के छेदने के लिये फरसा के समान है। जो देह के सुखों का नाश करने वाला है। जिसमें कोपीन (लगोटी) आदि वस्त्रों का त्याग किया जाता है, वह तप है। हे भव्य पुरुषो! उस तप को पदमासनादि उत्तम आसनों को धारण करके करो।

मध्यम पात्र रूप आर्यिका व व्रती श्रावकों के अर्थ और जघन्य पात्र रूप चतुर्थ गुणस्थान वर्त्ती अव्रत सम्यक्दृष्टि श्रावकों के अर्थ जो नवधाभक्ति पूर्वक आहार, औषधि, ज्ञान दान और अभय भेद से चार प्रकार का दान दिया जाता है वह त्याग है। और जो प्रसन्न मुख से दया भाव पूर्वक दीन दुखियों को भोजनादि दिया जाता है वह भी त्याग है।

चाए विणु मंदिरु पेउवणू पुरि सुवि मडिय सरित्यउ ॥
गिद्धो वम पुत्त कलात्तठिया खंति धणामिसु णिच्छउ ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस गृहस्थ के यहां त्याग धर्म नहीं है, उसका घर स्मशान भूमि के सदृश जानना चाहिये। उस घरके मुखिया पुरुष को मृतक (मुर्दों) के सदृश जानना चाहिये। और उस घर में रहने वाले पुत्र, मित्र और स्त्री वर्ग को गृद्ध (गीध) पक्षी के समान समझना चाहिये। क्योंकि ये सब गीध के समान पुत्र, कलत्र आदि त्याग धर्म में न खर्च किये हुए धन रूपी मांस को दृढ़ निश्चय से (अवश्यमेव) भक्षण करते हैं। भावार्थ— जो दान नहीं देता उसके धनको पीछे से स्त्री पुत्रादि ही भोगते हैं। इसलिये निज शक्तिअनुसार अवश्यमेव दान देना चाहिये।

ओं ह्रीं शक्तितस्त्यागाय नमः (महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा)

का गमन रोका जाता है। तथा—

सिर केसह लुंचणुणिय करेण। छावासइ जुंजइ णियखणेण।
णग्गउ विपुलइ तिहुं काललोइ। आजम्मुवि अह्णाणत्त होइ ॥५॥

अर्थ—जिसमें अपने हाथ से मस्तक के केशों का लोंच किया जाता है। जो समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों में यथा समय लगाता है। जिसमें ग्रीष्म, वर्षा और शीत इन तीनों कालों में नग्न मुद्रा धारण कर लोक में विहार किया जाता है। जिससे जन्म पर्यन्त स्नान नहीं किया जाता। तथा—

भूसयण जोय णिद्दा सवेइ। दंतव णवि अंगुलिणउ खिवेइ ॥
ट्ठिदि भोयणु मौणय इक्कबार। भुंजइणीरस विसयावहार ॥६॥
ए रिस तउजइ महणीय होइ। केवल पावइ ते परम जोइ ॥

अर्थ—जिसमें पृथ्वी पर शयन कर योग निद्रा से (पिछली रात में सावधानी के साथ) निद्रा ली जाती है। जिसमें दांतों पर भी अंगुली नहीं रक्खी जाती है अर्थात् दन्त धावन नहीं किया जाता है। जिसमें मुनीश्वर खड़े होकर मौन के साथ दिन में एक बार विषय वासना को हटाने वाला नीरस भोजन करते हैं। वह तप है। ऊपर जो तप का स्वरूप दिखाया गया है वैसा ही तप जगत में पूज्य और आदरणीय है। इस

तं तउ जहिं तवभरि दमिय अंग । तं तउ जहिंणिरु सो सिउ अणंग ॥
तं तउ जहिं दो विह णत्थि संग । तं तउ जहिं इंदियविसय भंग ॥२॥
तं तउ जहिं गिर कंदर णिवास । तं तउ जहिंइच्छिय जलणगास ।
उवसग्गागमि कम्पइणा जंजि । तवयरन अंग भासियउ तंजि ॥३॥

अर्थ—तप वह है, जहां तप के भार से (अधिकता से) शरीर का दमन किया जाता है । तप वह है जहां काम का शोषण होता है–अर्थात् काम विकार जीता जाता है । तप वह है जिसमे दो प्रकार के परिग्रह का अभाव है । तप वह है जिसमें पांचों इन्द्रियों के विषयोंका नाश होता है । तप वह है जिसमें पर्वतकी गुफाओं में निवास किया जाता है । तप वह है जिसमें आहार पानी की भी इच्छा नही की जाती–उपसर्ग के आने पर जो कंपायमान नहीं होना है वह भी तपश्चरण का अंग कहा गया है ।

णिज्जरइ चिरज्जिय कम्म दुट्ठ । कासोवर राउ न बुद्धि दुट्ठ ॥
महव्वय पण पालणु समिदि पंच । पालणु रोहणे इंदियहि पंच ॥४॥

अर्थ—जिनके द्वारा चिरकाल से संचित किये हुए दुष्ट कर्मों की निर्जरा होती रहे । जिसमें किसी के ऊपर भी रागद्वेष रूप बुद्धि नहीं होती । जिसमें पंच महाव्रतों का और पांच समितियों का पालन किया जाता है । जिसमें विषयों के प्रति पांचों इन्द्रियों

भय का प्रवेश नहीं है उसको साधु समाधि जानना चाहिये।

ओं ह्रीं साधु समाधये नमः।

साहुसमाहि अंतकालहि पुणु मग्गिज्जइ पसिद्धिया।
जम्मजरा मरण भमभीयइ णरेण गुणेण रिद्धिया॥ १॥

अर्थ—जन्म, जरा, और मरण से भयभीत तथा गुणरूप ऋद्धि के धारक पुरुष द्वारा मरण समय में प्रसिद्ध ऐसी साधु समाधि मांगी जाती है।

भविभवि णवणव गहियइ अंगइ। भविभवि जायइ सयण पसंगइ॥
भवि भवि रज्जरिद्धि संजाया। भविभवि जणणि जणणु सुहदाया॥२॥

अर्थ—भव भव में नये नये शरीर धारण किये। भव भव मे स्वजनों (कुटुम्बियों) का सम्मेलन हुआ। भव भव में राज्य विभूति पाई। भव भव में सुख देने वाले माता पिता हुए।

भविभवि णारित्तणु संपत्तउ। भविभवि संठवि मयण पलित्तउ॥
भविभवि माणुसन्ति उपण्णउ। भविभवि दुहिउ विसुह संपण्णउ ३

अर्थ—भव भव में स्त्री की पर्यायि पाई। भव भव में कामाग्नि कर प्रज्ज्व-

तप को जो धारण करते हैं वे परम योगीश्वर हैं। और तप के प्रभाव से केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं।

तउ पुज्जवि अज्जिविधम्म गणु। अग्घुत्तारिवि करविथुई।
जे सिव कामणि दुरंतरिया। एवहिं तुम्हहिं करइरई ॥ ८ ॥

अर्थ—भो भव्यजनो! जो तुम इस तप रूपी धर्म की पूजा करके, अर्घोत्तारण करके स्तुति करोगे तो इसके फल से दूर बैठी हुई मुक्ति रूपी स्त्री तुममें प्रीति करेगी।
भावार्थ—जो इस शक्तितस्तप नामक सप्तम कारण की भावना भावेगा वह शिवरमणी के प्रेम का भाजन होगा।

ओं ह्रीं शक्तितस्तपसेनमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा

अथ साधु समाधि भावना।

मरणोपसर्ग रोगादिष्ट वियोगादनिष्ट संयोगात्।
नभयंयत्र प्रविशति साधुसमाधिः स विज्ञेयः ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमें मरण उपसर्ग, रोग, इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग से उत्पन्न हुए

अनादि काल से संसारमें परिभ्रमण करते हुए मैंने जन्म जन्मान्तरमें ऊपर लिखी सब बातें पाईं तिस पर भी अनंत काल तक संसार ही में रहा। क्योंकि अनेक जन्म में की हुईं श्री जिनेन्द्र पूजनादि समस्त शुभक्रियायें भी सम्यग्दर्शन के बिना निष्फल हो गईं।

णत्थि अपुव्व किंपि भुवणंतरि। साहुसमाहि होउ एत्थंतरि॥
रयणत्तयहुलद्धिपुणु बोही। परगहणेय अविग्घ समाही॥७॥

अर्थ—इस तीन लोक में कुछ भी अपूर्व नहीं है इसलिये अब अपूर्व ऐसी निर्विघ्न समाधि की प्राप्ति हो। भावार्थ—मेरी आत्मा ने संसार में परिभ्रमण कर सब कुछ प्राप्त किया है परन्तु मुझे साधु समाधि की प्राप्ति अब तक नहीं हुई सो अब होओ। रत्नत्रय और सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने से साधु समाधि होती है।

साहु समाहि साजि जिण भासइ। चउगइ गमण एउणिएणासइ॥

अर्थ—जो चतुर्गति के गमन का नाश करती है उसे श्री जिनेन्द्रने साधुसमाधि कही है। अर्थात्-जो भव्य अन्त समय में सब पदार्थों में ममता निवार समता धार श्री पंच परमेष्ठी के स्मरण पूर्वक मरण करते हैं वह साधु समाधि कहलाती है। इसके फल से संसार में परिभ्रमण नहीं होता।

लित नपुसक भी हुआ, भव भव में मनुष्य पर्याय में भी उत्पन्न हुआ, भव भव में दुखी हुआ और सुख का धारक (सुखी) भी हुआ।

भविभवि णारयणवि संमज्जउ। भविभवि तिरियगइहिं पुणुभज्जिउ॥
भविभवि णरु मिच्छत्तिउ जायउ। भविभवि सग्गलोउ संपायउ॥४॥

अर्थ—भव भव मे नरक गति में भी हुवा, भव भव में तिर्यंच गति का भी सेवन किया। भव भव में मिथ्यात्वी मनुष्य हुआ और भव भव में स्वर्ग लोक को भी प्राप्त किया (देव भी हुआ।)

भविभवि जिणपुज्जिउ गुरु वंदिउ। भविभवि छम्मिय अप्पउणिंदिउ॥
भविभवि दुद्धर तउ आयरियउ। भविभवि समवसरण संचारिउ॥५॥

अर्थ—भव भव में श्री जिनेन्द्र की पूजा की, भव भव में कपट से अपनी निन्दा की, भव भव मे दुद्धर तपश्चरण किया और भव भव में समवसरण में गमन किया।

भविभवि बहु सुयंगु अब्भासिउ। तहवि अणंतकाल भववासिउ॥
विणु सद्दं सणेण अकियत्थइ। सयलहि होय जइवि सुपसित्थइ॥६॥

अर्थ—भव भव में बहुत से श्रुत ज्ञान के अंगों का अभ्यास किया तोभी अर्थात्

७५

अर्थ—कोढ़, उदर पीड़ा, शूल, वात, पित्त, मस्तक की पीड़ा, खांसी, श्वांस, तथा वृद्धावस्था जनित रोगों से पीडित ऐसे जो मुनीश्वर उनके अर्थ औषधि व आहार का देना, उनकी सेवा-विनय तथा आदर करना ये सब जिसमें हों वह वैयावृत्य कहलाता है।

ओं ह्रीं वैयावृत्यकरणाय नम

घत्ता। तवतत्तहं रोयजुयगत्तहं। वट्टहणियविवेयणम् ॥
ओसह पच्छुताहं विरइज्जइ। तं गुणुणवसु सोहणं ॥ १ ॥

अर्थ—तपश्चरण करनेवाले, शरीरसे निजात्माका विवेचन करनेमें लगे हुए अर्थात् आत्म ज्ञान में प्रवृत्त और रोग सहित शरीर के धारक (रोगी) ऐसे मुनियों के लिये जो औषधि तथा पथ्य की रचना की जाती है, अर्थात् औषधि तथा आहार दान दिया जाता है वह नवमां वैयावृत नामा श्रेष्ठ अंग है।

दहविह वैयावच्चु विहज्जइ। गणगलाण आइय भाविज्जइ ॥
वइयावच्चुवि ओसह दाणइ। किज्जइ जइ पुंगमह पहाणइ ॥२॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंके लिये दश प्रकारका वैयावृत्य करना चाहिये। और दश प्रकार के मुनियों की भावना भावनी चाहिये। औषधिदान से वैयावृत्य होता है। यह

घत्ता। अट्ठमि अंगहु इयथुइ भणिवि । अग्घु समुत्तारइ जणरु ।
सोभव सायरु हेलय तरिवि, हवइ अट्ठ गुण सेणिधरु ॥ ६ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव इस तरह साधु समाधि नामक आठवें अंगको स्तुति कर उसके लिये अर्घोत्तारण करते हैं वे ससार रूपी समुद्र को क्रीड़ा मात्र से (अल्प काल में) पार कर सम्यग्दर्शनादिक आठ गुणों के समुदाय को धारण करने वाले सिद्ध हो जाते हैं।

ओं ह्रीं साधु समाधये नमः अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ वैयावृत भावणा ।

कुष्टोदर व्यथाशूलैर्वातपित्त शिरोर्तिभिः ॥
कासश्वास जरारोगैः पीडताः ये मुनीश्वराः ॥ १ ॥
तेषां भैषज्यमाहारः शुश्रूषाविनयादरो ॥
यत्रैतानि प्रवर्तन्ते वैयावृत्यं तदुच्यते ॥ २ ॥

उस को भी वैयावृत्त्य समझना चाहिये अर्थात् वह निश्चय वैयावृत्त्य है। रागादिक दोषों को दूर करनेके लिये जो शीघ्रही कर्मोंके आश्रव को रोकना है वह निजात्मा के प्रति वैयावृत्त्य है।

घत्ता। वइयावच्चु जगुत्तमुजि। एह जिनंदह वुत्तउ।
जो करहि उवासय अहसवणु। सो सिव लहइ णिरुत्तउ ॥ ६ ॥

अर्थ—वैयावृत्त्य अंग जगत में अत्युत्तम है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो कोई श्रावक या मुनि इस वैयावृत्त्य को करते हैं वह शीघ्रही मोक्षको प्राप्त होते हैं।

ओं ह्रीं वैयात्त्यकरणाय नमः महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ अर्हद्भक्तये भावना।

मनसा कर्मणा वाचा जिन नामाक्षरद्वयम्।
सदैव स्मर्यते यत्र सार्हद्भक्तिः प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥

अर्थ—जहां मन, वचन और काय से " जिन " इस नाम के दो अक्षरों का सदैव स्मरण किया जाता है वह अर्हद्भक्ति कही गई है।

ओं ह्रीं अर्हद्भक्तये नमः।

मुनीश्वरों में प्रधान जो मुनि हैं उनका करना चाहिये।

वइयावच्चु तंजि आहारइ। जुत्ति दिज्जइ देहाधारइ॥

वइयावच्चुवि अवगुण झंपणु। सद्दिट्ठिय किज्जइ थिरयप्पणु ॥३॥

तह भट्ठवि पुणु सुपह ठविज्जइ। वइयावच्चु सोजि पभणिज्जइ॥

अथ—जो युक्तिसे देहका आधार भूत (शरीर का रक्षक) आहार दिया जाता है वह वैयावृत्य है। जो दोषों को छिपाकर सम्यग्दृष्टि को दृढ़ता के साथ जिन धर्म में ठहराना है सो भी वैयावृत्य है। जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुए को फिर सुमार्ग (जिनधर्म) में स्थिर करना है सो भी वैयावृत्य कहलाता है।

जं सुयंगु पाढइ गुरु सिस्सह। सीसुवि सेवइ पाइ रिसीसह ॥ ४ ॥

जंभाइज्जइ चेयण तच्चो। तं पि मुणिज्जइ वैयावच्चो॥

रायाइय दोसह परिहरणे। आसिजाय कम्मसव हरणे ॥ ५ ॥

अर्थ—जो गुरु महाराज शिष्यों के लिये जैन शास्त्र पढ़ाते हैं, वह गुरु के द्वारा किया हुआ वैयावृत्य है। और जो शिष्य शास्त्र ज्ञान के दाता ऋषीश्वरों के चरणों की सेवा करता है वह शिष्य के द्वारा किया हुआ वैयावृत्य है। जो निजात्मतत्त्व का ज्ञान करना है

७६

तह थुइ विरइज्जइ कर पणामु । झावहु सो मणि रवि कोड़िधामु ॥४॥

अर्थ—जिनके अशोकवृक्ष, सुर पुष्प वृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामंडल, दुंदुभि और छत्र ये आठ प्रातिहार्य हैं। समवशरण में जिन के चारों तरफ छत्र, चमर, कलश, पंखा, पडिघो (ठोना) ध्वजा, दर्पण, और झारी ये आठ मंगल द्रव्य धरे रहते हैं। जिनके चरण कमलों को सुरेन्द्र,नरेन्द्र, धरणेन्द्र अनुराग सहित निरन्तर नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥ जो क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं। जिनने कर्म रूपी शत्रुओं का नाश किया है, वे सुख के कर्त्ता श्री अरहंत परमेष्ठी हैं। इन श्री अर्हंत परमेष्ठीकी पूजा करो। नमस्कार करके स्तुति करो और करोड सूर्य की तेज को भी अधिक तेज को धारण करने वाले उन श्री अरहंत का मन में ध्यान करो ॥ ४ ॥

अर्हंतभत्ति किज्जय जणेण । पुज्जिज्जय पणमिज्जय सिरेण ।
अर्हंतभत्ति जवसिंधुतार । अर्हंतभत्ति णरया पहार ॥ ५ ॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान की भक्ति हर एक मनुष्य को करनी चाहिये। उनकी पूजा करनी चाहिये। मस्तक से उनके प्रति नमस्कार करना चाहिये। यह अर्हंत भक्ति संसार रूपी समुद्र से तारने वाली है और नरकों के दुःखों से बचाने वाली है।

अरहंतह पूया_भत्तिकरि, अग्घुत्तारउ एहुपुणि ।
कुसुमंजलि हत्यहु खिविवि, भावहि माणुसुतासु गुणु ॥ १ ॥

अर्थ—भो अर्हद्भक्ति के धारक भव्यजनो ! तुम श्री अरहंत भगवान की पूजा और भक्ति करके फिर उन के अर्थ अर्घोत्तारण करो । उनके चरणोंके आगे अपने हाथों से पुष्पांजलि का क्षेपण करो । और मन में उनश्री अर्हंत परमेष्ठी के गुणों का चिन्तवन करो ।

घत्ता। चउघाइ कम्मखय अरुह होइ । केवल लोयणुतिजयन्त जोइ ॥
समवसरण सिउ भूसिउ सराउ । जसुपभणहिं सुर जयजय णिणाउ ॥२॥

अर्थ—ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अतराय इन चार घातिया कर्मों के नाश होने से अर्हंतपरमेष्ठी होते हैं । वे अर्हन्त परमेष्ठी केवल ज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा तीनों लोकों को एक साथ देखते और जानते हैं । और समवसरण लक्ष्मी से शोभायमान हैं । चतुर्णिकाय के देव जय जय शब्द पूर्वक उनके यश का गान करते हैं ॥ २ ॥

जसु पाडिहेर अट्ठेव संति । मंगल विअट्ठ चउ पास ठंति ॥
णइंद णरिंद सुरिंद पाय ।जसु पणवह अहणिसियद्धराय ॥ ३ ॥
दहअट्ठदोस बज्जिय हयार । सो अरुहुय पुज्जहु सोक्खयार ॥

देने के लिये द्वार पर खडे होकर गुरु को देखना। मुनि को आहार में अन्तराय हो जाने पर यथा शक्ति उस वस्तु का वर्षों का त्याग करना अथवा उपवास करना, श्री मुनि के चरणों की वंदना तथा पूजा करना, मुनि के अर्थ प्रणाम करना, मुनि का विनय करना तथा मुनिको उच्चासन देना ये सब कार्य जिसमें किये जाते हैं वह गुरुभक्ति अर्थात् आचार्य भक्ति मानी गई है।

ओं ह्रीं आचार्य भक्तये नम.।

घत्ता। आयरिय गुणायर तवधरहं। पुज्जिवि अग्घुत्तारियइ ॥

झाविज्जइ माणसि ताह सुगुणु। कर कुसुमंजलि धारियइ ॥ १ ॥

अर्थ—गुण की खानि तथा तप के धारक ऐसे श्री आचार्य परमेष्ठी की पूजा करके उनके प्रति अर्घोत्तारण करना चाहिये। मन में उनके गुणों की भावना भानी चाहिये। और हाथों से पुष्पांजलि चढाना चाहिये।

छत्तीस महागुण संजुयाह। पंचाचारा रोहण पराह।

णिग्गंथ मग्ग गच्छण पराह। मासेक पक्खु भुत्तीयराह ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्यों के जो १२ व्रत, १० धर्म, ५ आचार, ३ गुप्ति और छह आवश्यक

घत्ता। अर्हंतभत्ति दह मंगहुजि, अग्घुत्तारउ एहुणिरु।

जिहिंसुरणर सुक्खइं, अणुहविवि पुणुपउ पावइ अखउणिरु ॥६॥

अर्थ—यह अरहत भक्ति षोडशकारण में दशम अंग (कारण) है। हे भव्यपुरुषो, इसके लिये अर्घोतारण करो। जो ऐसा करते हैं वे इस अर्हंत भक्ति के फल से देव, मनुष्यों के सुखों को भोग कर फिर अविनाशी और स्थिर ऐसे मोक्ष पद को पाते हैं।

ओं ह्रीं अर्हंभद्‌क्तये नमः महार्घ्यं निर्वपामीतिस्वाहा ॥

अथ आचार्यभक्ति भावना।

निर्ग्रंथमुक्तितो भुक्तिस्तस्य द्वारावलोकनम् ॥
तद्भोज्या लाभतो वस्तु रसत्यागोपवासता ॥ १ ॥
तत्पाद वंदनापूजा प्रणामो विनयोन्नतिः ॥
एतानि यत्र जायंते गुरुभक्तिर्मता च सा ॥ २ ॥

अर्थ—निर्ग्रंथ मुनियों को आहार दान देने के पश्चात् भोजन करना। आहार दान

८३

तांहपाय पोमभवरेण चित्त । वसु दव्वहि पुज्जिजय पवित्त ॥ ५ ॥

अर्थ—ऐसे जो श्री आचार्य परमेष्ठी हैं उनकी पृथ्वी में मस्तक रखकर और सब शरीर को नमाकर वंदना करनी चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त गुण विशिष्ट आचार्यों के अर्थ पंचाग नमस्कार करना चाहिये। तथा ससार रूपी मृत्तिका (कर्ममल) से रहित उनके पवित्र चरण कमलों की अथवा उनके चरण कमलों की रज जिस भूमि में मिल गई हो उस पवित्र पृथ्वी की अष्ट द्रव्य से पूजा करनी चाहिये।

घत्ता। इय थुइ पभणंत अग्घु कुणंतउ। पणामंतउणरु सुह लहई।
णिद्दलि विभवावलि फेडिप्पिणु कलिवीय राउ रारि सु कहई ॥६॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार से स्तुति पढ़ता हुआ, अर्घोत्तारण करता हुआ और नमस्कार करता हुआ आचार्य भक्ति धारक भव्य पुरुष, आगे होने वाले जन्मों के समूह का नाश करके अविनाशी सुख को प्राप्त होता है, ऐसा श्री सर्वज्ञ वीतराग का उपदेश है।

ओं ह्रीं आचार्य भक्तये नमः महार्घ्य निर्वपामीतिस्वाहा ॥

रूप छत्तीस गुण कहे हैं उन कर सहित, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, और वीर्य इन पांच प्रकार के आचार पालने में तत्पर, निर्ग्रन्थ मुनियों के मार्ग में गमन करने में उत्साही, महीने वा पन्द्रह दिन में भोजन करने वाले—

आवासिय गिर कंदरवणाह । णिच्चल सज्झाण धारिय मणाह ।
दिक्खा सिक्खा विहि णिवुणयाह । जुत्तिए णवियाणियणवणयाह ॥३॥

अर्थ—पर्वत की गुफा तथा वनमें निवास करने वाले, निश्चलता पूर्वक मन में धर्म ध्यान व शुक्लध्यान के धारक, दीक्षा और शिक्षा देने की विधि में अति निपुण, युक्ति-पूर्वक द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकादि नव नयों को जानने वाले—

काउसग्गे अहणिस ठियाह । संसार कूपणि वडण भयाह ।
मण वय तणुसुद्धी करि विताह । णसग्गिठविय लोयण जुयाह ॥४॥

अर्थ—रात्रिदिन कायोत्सर्ग में स्थित अर्थात् शरीर से ममत्व त्याग कर ध्यान में मग्न रहने वाले, संसार रूपी कूप में डूबने के भय को धारण करने वाले, मन-वचन-काय की शुद्धि के धारक नासिका के अग्रभाग में दोनों नेत्रों को स्थापन करने वाले—

महि मंडल धारवि उत्तमंगु । वंदणु किज्जय णावेवि अंगु ।

जे अंगइ पुव्वययरणायाइ । सुयपढइ जिरणयम वरणायाइ ॥

तह अरणाह पाठावंत मद्य । ते बहु सुयणाहे भणिय सव्व ॥ २ ॥

तह भत्तिकहिय बहु सुत्थभत्ति । पविणासिय जाय भवस्स थिति ।

अर्थ—जो भव्य जीव जिनागम में कहे हुए ११ अंग, १४ पूर्व और प्रकीर्णों को स्वयम् (आप) पढ़ते हैं तथा दूसरों को पढ़ाते हैं वे सब बहुश्रुत के स्वामो कहे गये हैं। उन बहुश्रुत के धारकों की जो भक्ति का करना है सो संसार की स्थिति का नाश करने वाली बहुश्रुत भक्ति कहलाती है।

सासत्थ भत्ति जहिं पढ़इ सत्थ । सा सत्थ भत्ति जहिं कहइ अत्थ ।।३॥

लेहा विज्जइ णियकर लिहेण । सोहइ अक्खर मत्ताणि हेण ॥

अर्थ—जिनमें शास्त्रों की स्वाध्याय की जाती है वह श्रुतभक्ति है। अथवा जिसमें शास्त्रों का अर्थ कहा जाता है वह श्रुतभक्ति हैं। भावार्थ—शास्त्रों की स्वाध्याय करने व शास्त्रों का अर्थ दूसरों को समझाने से श्रुतभक्ति होती है। अथवा जो जैन शास्त्रों को विनय पूर्वक लिखवाना है वा अपने हाथ से लिखना है तथा अक्षर मात्रा आदि को यथायोग्य शोधना है सो भी श्रुतभक्ति है।

पुट्ठे हिंठवय पट्टं वरेहिं । पत्थाइय मुयजणमण हेरहिं ॥ ४ ॥

अथ वहु श्रुतभक्ति भावना।

भवस्मृतिरनेकान्ता लोकालोक प्रकाशिका।
प्रोक्ता यत्रार्हता वाणी वर्ण्यते सा वहु श्रुतिः ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमें संसार के दुखों को स्मरण कराने वाली, स्याद्वाद रूप, लोकाकाश, अलोकाकाश को प्रकाशित कराने वाली ओर श्री अर्हंतद्वारा उपदेश हुई वाणी कही गई हो-वह वहुश्रुति कहलाती है। भावार्थ—श्री जिनोक्त द्वादशांगवाणी का नाम 'वहुश्रुति' है, इसको अथवा इसके धारक उपाध्याय परमेष्ठियों की जो भक्ति करना है वह वहु श्रुति नामक बारहवां अंग (कारण) है।

घत्ता। जे वहु सुयधारहु अंग सुसारहु। अग्घुत्तारहु विणयणुया।
ते सत्त महण्णउ वज्जिय दुण्णउ। उत्तरंति रयधूयणुया ॥ १ ॥

अर्थ—जो भव्य रयधु कवि द्वारा नमस्कार को प्राप्त, अंगों में श्रेष्ठ वहुश्रुत धारक अग के अर्थात् वहुश्रुत भक्ति नामक कारण के अर्थ विनय से नम्रीभूत होकर नमस्कार करते हैं, वे दुर्नयों से रहित ऐसा जो शास्त्र रूपी समुद्र है उसे पार करते हैं।

८७

अथ प्रवचन भक्ति भावना ।

षट् द्रव्यं पचं कायत्वं सप्त तत्त्वं नवार्थता ॥
कर्म प्रकृति विच्छेदो यत्र प्रोक्तः स आगमः ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमे छह द्रव्य (जीव, पुग्दल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) पांच अस्तिकाय (जीव, पुग्दल, धर्म, अधर्म और आकाश) सप्त तत्त्व (जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष) नव पदार्थ (सातों तत्त्व और पुण्य तथा पाप) और कर्म की प्रकृतियों का नाश कहा गया हो वह आगम अर्थात् प्रवचन कहलाता है ॥ १ ॥

ओं ह्रीं प्रवचन भक्तये नमः ।

घत्ता। पवयण दीवेण करट्ठियेण । तिजय भवण सुह मेइ रई ॥
सुपविच्छइ पेच्छिय मुणिवरेण । चेयणइ गुणभर धरई ॥ १ ॥

अर्थ— हाथ में धरे हुए शास्त्र रूपी दीपक के द्वारा मुनीश्वर तीन लोक रूपी भवन में सुख से प्रीति करते हैं, उत्तम पदार्थों का अवलोकन करते हैं और आत्म संबंधी ज्ञानादि गुणों के समूह को धारण करते हैं ॥ १ ॥

पट्टमय डोरि यत्तारिय एहिं । वंधिज्जइ हरिसिय जण मणेहिं ॥
वर कणय घडिय कुसुमहिं स एहिं । पंचविह रयण गण जडियएहिं ॥५॥
जं किज्जइ सत्थह पूयसार । सासुयभत्ति संसयणिवार ॥

अर्थ--रेशमी वस्त्रोंके पुट्ठामें शास्त्र को स्थापन कर, श्रोताजनोंके मनको हरण करने वाला अछावर बिछाकर, देखने मात्र से मनुष्यों के मन को हर्षित करनेवाले ऐसे रेशमी फीते और रेशमी वेठण से बांधकर, पञ्चप्रकार के रत्न समूह कर जडे हुये और उत्तम सुर्वणके बने हुये सैकड़ो पुष्पों द्वारा जो शास्त्र की समीचीन पूजा की जाती है वह संशय को दूर करने वाली श्रुतभक्ति है।

घत्ता। इह अग्घु पवित्तउ सुविहि पजत्तउ । सुयणाणउ उत्तारियई ॥
विसयहं जंतउ मणुथिर रक्खिवि खणु । पुणु पुणु तंजिवियारिमई ॥६॥

अर्थ—जो भव्य जीव उत्तम विधि से बनाया हुआ पवित्र अर्घ उतारते हैं और विषयों में जाते हुये मन को स्थिर रखकर अर्थात् विषयों से चित्त को हटाकर बारम्बार शास्त्र का चिंतवन करते हैं वे ही श्रुतभक्ति के धारक हैं।

ओं ह्रीं बहुश्रुतभक्तये नमः महार्घ्यं निर्वपामीतिस्वाहा ॥

८९

दंसण णाण चरित्ता परणइ। दो दह अणु बेहा उंव सरणइ ॥
बारह तव बारह पुण अंगइ। अंग पुब्ब बहिरंग पसंगइ ॥ ५ ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान, और चरित्रका आचरण, अनित्यादि बारह भावनायें, बारह, तप, बारह अंग, १४ पूर्व, अंगवाह्यादिक—

सप्पिणि उवसप्पिणिउ विकुलयरि। तित्थंकर हरि पडिहर हल हरि ॥
एव माइ जहि सयलुजि उत्तउ। तंजिण आयमु होय णिरुत्तउ ॥ ६ ॥
तासु भत्ति किज्जइ पण मिज्जइ। थोत्त सहेय थुती विरइज्जइ ॥

अर्थ—अवसर्पिणी, उतसर्पिणी काल, १४ कुलकर, २४ तीर्थंकर, ६ नारायण, ६ प्रति नारायण, ६ हलधर, इनको आदि लेकर जिसमें सब बातें कही गई हों वह अतिशय कर माननीय जिनागम है। उस जिनागम की भक्ति करना चाहिये, उस को नमस्कार करना चाहिये और सैकड़ों स्तोत्रों द्वारा उसकी स्तुति करना चाहिये।

घत्ता। तं पवयण अंग भत्ति भणउ। दोस सहासह णिरसणु ॥
अगवुत्तारिवि तं भाइज्जय। जिम दिढ होइ सुदंसणु ॥ ७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार से जो भक्ति की जाय वह हजारों दोषों का नाश करनेवाली

पवइण जिण आयमुय भणिज्जइ । जुत्तकाल पभणेहिं पढिज्जइ ॥
णवय यत्थ छह दव्व सतच्चइं । ताह भेय पज्जाउं सव्वइं ॥ २ ॥

अर्थ—जिनागम को प्रवचन कहते हैं। अर्थात् प्रवचन यह जिनागम का नाम है, इसलिये संध्याकालादि अयोग्य समय को छोड़कर योग्य अवसर में शब्दोच्चारण पूर्वक जैन शास्त्रोंको पढ़ना चाहिये। ६ पदार्थ, ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, इनके सब भेद और क्रियायें तथा—

कालत्तय सरूउ लोयत्तउ । कम्म पयडि धम्मु विरयणत्तउ ॥
सावय महव्वयाह गुण किरियउ । गुण ठाणहिं भेयइ अब हरियउ ॥ ३ ॥

अर्थ—तीन काल का स्वरूप, तीनों लोक, कर्म प्रकृति, रत्नत्रय रूप उत्तम दश धर्म, श्रावक के अणुव्रत, मुनि के महाव्रत तथा श्रावक व मुनि संबंधी मूलगुण उत्तरगुण तथा क्रियाएं, गुणस्थानों के भेद तथा—

भूयगाम मग्गण जीवउ लइ । कुल कोडिउ जोणिउ तह सयलइ ॥
चारि णिओय सुचा रसणा गुण । चउ कसाय भेयइ चउगइ पुण ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव समास, मार्गणा, कुल कोडि, ८४ लाख योनियां, प्रथमानुयोगादि चारों अनुयोग, चार संज्ञा, क्रोधादिक चारों कषायों के भेद, नरकादि चारों गतियां तथा—

६१

अह जइ णियविअप्प अप्पा गुण। माणुण चिहुट्ठइ ता तव धर मण ॥
छावासउ किरिय उ परिपालउ। असुहासउ आवंतउ खालउ ॥ २ ॥

अर्थ—अथवा ऊपर कहे हुए राग द्वेषादि विकल्पों से रहित निर्विकल्प के गुणों के चिंतवन में मन स्थिर न होवे तो भो भव्यो ! हृदय में तप को धारण कर व्यवहार रूप जो छह आवश्यक क्रियाएँ हैं उनका पालन करो और आते हुए अशुभ कर्मों को उसके द्वारा रोको।

राय दोस सुह असुह विरत्तउ। समया भाव करय सुपवित्तउ ॥
करय तियाल जिणिंदह वंदणु। असुहास तरु सेणि णिकंदणु ॥ ३ ॥

अर्थ—शुभ पदार्थों में से राग का तथा अशुभ पदार्थों मे से द्वेष का त्याग कर पवित्र ऐसा जो समता भावरूप प्रथम आवश्यक है उसको करो। अशुभ कर्मों के आश्रव रूप वृक्षों की पक्ति की जड मूल से काटने वाली जो श्री जिनेन्द्र की वदना है उसको प्रातः-काल, मध्यानकाल और सायंकाल रूप त्रिकाल में करो। अर्थात् वदना नामक दूसरे आवश्यक को पालन करो।

गुरु भत्तीय करिवि पणमिज्जय। पवरथुई हिं जिणह थुइकिज्जय ॥
अट्ठविहिय कम्मह विणिवारणु। पडिकमणउ जम्मंबुहि तारणु ॥ ४ ॥

प्रवचन भक्ति कहलाती है। इस प्रवचन भक्ति के अर्घ अर्वाचारण कर इसका ध्यान करना चाहिये जिससे सम्यगदर्शन दृढ होता है।

ओं ह्रीं प्रवचन भक्त्यैनम अर्घं निर्वपामीतिस्वाहा।

अथावश्यका परिहाण भावना।

प्रतिक्रमणात नूत्सर्गौ समता वंदना स्तुतिः।
स्वाध्यायः पठ्यते यत्र तदावश्यक मुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जिस अंगमें प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, समता, वंदना, स्तुति और स्वाध्याय ये छह आवश्यक कहे गये हों वह आवश्यक (आवश्यका परिहाणि नामक कारण) कहलाता है।

ओं ह्रीं आवश्यका परिहाणये नम।

घत्ता।—देहा उत्विभिणउ णाणत्तणु। कम्मरहिउ चिमुत्त जिउ ॥
येयंगाइं तहु झोयंतुज्जइ। पावइ अक्खउ परमपउ ॥ १ ॥

अर्थ—जो भव्य पुद्गल मय शरीर से भिन्न, ज्ञान रूप शरीर का धारक, कर्म रहित और चिन्मूर्त्त ऐसे निजात्मा का एकांत में चिंतवन करते हैं वे अविनाशी परमपद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। भावार्थ—निजात्मा का ध्यान करना ही निश्चय आवश्यक कहलाता है।

गेहट्ठियांह छावासयजि पालिज्जइ भव्वे सहिऊ ॥ ६ ॥

अर्थ—देव की पूजा करना, गुरु की सेवा करना, स्वाध्याय करना, संयम, तप और दान ये छह गृहस्थियों के लिए हितकारी—आवश्यक हैं। सो भव्यजनों को इनका भी पालन करना चाहिये।

ओं ह्रीं आवश्यका परिहाण्ये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ सन्मार्ग प्रभावना भावना।

जिनस्नानं श्रुताख्यानं गीतं वाद्यं च नर्त्तनम्।
यत्र प्रवर्त्तते पूजा सा सन्मार्ग प्रभावना ॥ १ ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र का अभिषेक करना, जैन शास्त्रों का व्याख्यान करना, श्री जिनेन्द्र के सन्मुख भक्ति भाव से गाना—बजाना तथा नृत्य करना और श्री जिनेन्द्र की पूजा आदि का करना जिसमें हो वह सन्मार्ग प्रभावना नामक कारण है।

ओं ह्रीं सन्मार्ग प्रभावनायै नमः।

अर्थ—भक्ति पूर्वक आचार्यादि निर्ग्रंथ गुरुओंको नमस्कार करो, और उत्तम उत्तम स्तुतियों से श्रीजिनेन्द्रकी स्तुति करो अर्थात् स्तुतिनामक तीसरे आवश्यकका पालन करो। ज्ञानावर्णीआदि आठ प्रकार के कर्मों को निवारण करने वाला तथा संसार रूपी समुद्र से पार करने वाला जो प्रतिक्रमण (मैंने जो अपराध किये हैं सो मिथ्या होवें ऐसी प्रार्थना करना) नामक चतुर्थ आवश्यक है उसको पालो।

आगासिय कम्मासव रुधणु। पच्चक्खाणुवि सुगइणि वंधणु॥
तणुसग्गो लंबियकरु झावय। विगइ रूउ अप्पाणउ भावय॥ ५॥
इहु आवस्सय अंगु महिज्जइ। कुसुंभजलि सहु अग्घु विदिज्जइ॥

अर्थ—आगामी काल में कर्मों के आश्रव को रोकने वाला जो प्रत्याख्यान नामक पंचम आवश्यक है, उसे पालो। क्योंकि यह भी उत्तमग तिका कारण स्वर्ग, मोक्षका देनेवाला है। खडे होकर दोनों हाथों को घुटनों की तरफ सीधे लटकाकर शरीर से ममत्व के त्याग का चिंतवन रुप कायोत्सर्ग नामक छटवां आवश्यक है, उसका पालन करो और उसमें रूप रहित शुद्धात्मा का ध्यान करो। इस पूर्वोक्त प्रकार के छह आवश्यकों के परिपालन रूप जो चौदहवां कारण है उसकी पूजा करो और उसके लिये पुष्पांजलि सहित अर्घ भी देवो।

घत्ता। गुरु देव पुज्ज सज्झाय पुणु। संजम तउ दाणेसहिउ।

६५

सुयवक्खाण मग्गु चलावइ । घोरुवीर तउ जण दंसावइ ॥

एह पहावण वि गुरुयारी । किज्जइ दुग्गइ पह अवहारी ॥ ४ ॥

अर्थ—जैन शास्त्रों के व्याख्यान द्वारा मोक्ष मार्गका चलाना और सर्वसाधारण मनुष्यों में घोर वीर तपश्चरण का दिखलाना भी कुगति के मार्ग से बचाने वाली बडी भारी प्रभावना कही गई है ॥ ४ ॥

जिण पयट्ठ जिण मंदिर करणे । अंड सिहर किंकिणि धय धरणे ॥

चंदोवय घंटा इयसोहा । एह पहावणावि दुहरोहा ॥ ५ ।

सयलहं धम्महं मज्झि गरिट्ठउ । अंगु पहावणंगु सुविसिट्ठउ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र की पच्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराना, श्रीजिनमंदिर वनवाना, मंदिर के शिखर पर कलश, किंकिणी (छोटी २ घंटियां,) और ध्वजा का चढ़ाना, श्री जिनमंदिर में चदोवा और घंटा इत्यादिक से शोभा करना भी दुख को नाश करने वाली प्रभावना कही गई है । अर्थात् श्री बिम्बप्रतिष्ठादि कराने से भी सन्मार्ग प्रभावना होती है । यह प्रभावना अंग सब धर्मों में बड़ा है इसलिये श्रीजिनेन्द्र ने इसको सर्वोत्तम कहा है ॥ ५ ॥

घत्ता । सुपहावणंगु जय पुज्जियउ । पुज्जहु भत्तीए भव्वयणा ॥

जिण मग्ग पहावणु पणदहमउ । अंगुवितिजय मणिट्ठउ ।
पूजिज्जइ झाइज्जइ मणहं । एहु जिणंदह सिट्ठउ ॥ १ ॥

अर्थ—तीन लोक में मणि (रत्न) के समान जिन मार्गकी प्रभावना नामक पन्द्रहवां अंग (कारण) है। इसको पूजा करनी चाहिये और इसका मनमें ध्यान करना चाहिये ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है ॥ १ ॥

जिणहु गण्हण सुमहोच्छउ कज्जिजइ । पुणु पुज्जा अच्चा जिण किज्जइ
णाचिज्जइ पुलइय मणकाये । गाइज्जइ जिण गुण अणुराये ॥ २ ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र का अभिषेकोत्सव करना चाहिये, फिर श्री जिनेन्द्र की पूजा करनी चाहिये। प्रसन्न मन और हर्ष से रोमाचित हुये शरीर से भगवान के आगे नृत्य करना चाहिये और अनुराग से श्रीजिनेन्द्र के गुणों का गान करना चाहिये ॥ २॥

अट्ठाइय रयणत्तय पव्वहिं । एम महोच्छउ किज्जइ सव्वहिं ॥
तजि पहावणंगु सुह सासउ। कुणय पक्ख मणं पय णियतासउ॥३॥

अर्थ—इसी प्रकार अष्टाह्निका और रत्नत्रय पर्वमें भी जो सब भव्यों द्वारा महोत्सव किया जावे वह भी मिथ्यात्व रूपी वृक्ष का नाश करने को पैनी कुठारी के समान अर्थात् अन्यमतावलम्बियों के मन को क्षोभित करने वाला उत्तम प्रभावनांग कहा गया है ॥ ३ ॥

और गुणवानों का गौरव करना है सो वात्सल्य है। इससे सुगति की प्राप्ति होती है ॥१॥

वच्छल्ले विज्जा सिद्ध होइ। वच्छल्ले सुर पणमंत लोइ।
वच्छल्ले ओपज्जंति रिद्धि। वच्छल्ले वर दंसण विसुद्धि ॥ २ ॥

अर्थ—वात्सल्य के पालन से विद्याएं सिद्ध होती हैं, वात्सल्य के प्रभाव से मनुष्य को देव आकर नमस्कार करते हैं, वात्सल्य से ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं और वात्सल्य से सम्यग्दर्शन की निर्मलता होती है ॥ २ ॥

वच्छल्ले मइ सुइ विच्छरेइ। विच्छल्ले पाउण संचरेइ।
वच्छल्ले रेहइ तउ पहाणु। वच्छल्ले रेहइ मग्गझाणु ॥ ३ ॥

अर्थ—वात्सल्य से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विस्तार होता है, वात्सल्य से पाप की उत्पत्ति नहीं होती, वात्सल्य से उत्तम तप की वृद्धि होती है और वात्सल्य से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की तथा ध्यान की वृद्धि होती है ॥३॥

वच्छल्ले रेहइ सम्म दिट्ठि। वच्छल्ले रेहइ सव्व सिद्धि।
वच्छल्ले दाणाइय कयच्छ। वच्छल्ले फुरइ फसत्थ अत्थ ॥४॥

अर्थ—वात्सल्य से सम्यग्दर्शन बढ़ता है, वात्सल्य से सब सिद्धि बढ़ती है

अमरेसुरन्तु पाविह हधुउ । यय पणावे सय तिय सगणा ॥६॥

अर्थ—भो भव्यजनो ! तुम जगत पूज्य इस सन्मार्ग प्रभावना नामक पन्द्रहवें कारण की भक्ति पूर्वक पूजा करो जिससे तुम इन्द्र पद निश्चय से पाओ और देवों का समूह तुम्हारे चरणों में नमस्कार करे ॥ ६ ॥

ओं ह्रीं सन्मार्ग प्रभावनाय नम महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ प्रवचन वात्सल्य भावना ।

चारित्र गुण युक्तानां मुनीनां शील धारिणाम् ।
गौरवं क्रियते यत्र तद्वात्सल्यं च कथ्यते ॥ १ ॥

अर्थ—चारित्र गुण कर सहित और शील के धारक ऐसे मुनियों का जहां आदर सत्कार किया जाता है वह वात्सल्य कहलाता है ।

ओं ह्रीं प्रवचन वात्सल्याय नमः ।

घत्ता ॥ वर चरणा हरणालं किय हं । सवणहं संथुइ विरइज्जइ ॥
गउरत्तणु किज्जइ गुणधरहं तं । वच्छल्लु सुगइ णियइ ॥ १ ॥

अर्थ—जो उत्तम चारित्र रूपी आभूपण से शोभायमान मुनियों की स्तुति करना

६६

षोडशकारण समुच्चय जयमाला भाषा टीका सहित ।

जम्मंबुहि तारण कुगइ णिवारण, सोलहकारण सिवकरणं ।
पण विवि थुइ भासमि, सत्त पयासमि, तित्थयरत्त लच्छि धरणं ॥१॥

(पद्धड़ि छन्द)

भावहु भवियहु दंसण विसुद्ध । पणवीस दोस वज्जिय पसिद्ध ॥
पंच विहु विणउ पालहु जु हुत्त । जिण सासण मूलउ जो पहुत्त ॥ १ ॥
सीलवि पालहु आइयार मुक्कु । सिव पंथ सहायउ जो गुरुक्कु ।
णाणोपयोग खिण खिण सरेहु । संकप्प वियप्पइ परिहरेहु ॥ २ ॥
संवेउ अंगु भावहु मणम्मि । धम्मुजि धम्महु फल भेउ तम्मि ॥
णिय सत्तिय दिज्जइ पत्तचाउ । अह करइ कपाय चउक्क चाऊ ॥ ३ ॥
तउ किज्जइ दुद्धर अइस सत्ति । छंडेपिणु दोविय संग तत्ति ॥
वांछिज्जइ साहु समाहि चित्त । रायाइय दोसह किय णिमित्त ॥ ४ ॥

वात्सल्य से दानादि का देना कृतार्थ होता है और वात्सल्य से प्रशंसा करने योग्य अर्थ (धन) की वृद्धि होती है ॥ ४ ॥

वच्छल्लु णरहं मंडणु मणुज्जु । वच्छल्लु करइ विहु लोय कज्जु ॥
जिणदेव सच्छ रिसिवर वराह । वच्छल्लु विहिज्जइ भवहराह ॥५॥

अर्थ—वात्सल्य को मनुष्य का आभूषण समझना चाहिये, यह वात्सल्य उभय लोक (इस लोक और परलोक) के कार्यों को सिद्ध करता है। अर्थात् दोनों भव सुधारता है। ससार का नाश करने वाले श्रीजिनेन्द्र देव, जैन शास्त्र और निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों का वात्सल्य करना चाहिये ॥ ५ ॥

घत्ता। सोलहु मउ अंगुउ इय थुणिवि । अग्घुत्तारइ जो जिणरू ॥
पालिविदंसण आपरिवितउ । होइ पुणिवि सो तित्थयरू ॥६॥

अर्थ—भव्यजीव इस वात्सल्य नामा सोलहवें कारण की उपर्युक्त प्रकार से स्तुति करके अर्घोच्चारण करते हैं वे सम्यग्दर्शन को धारण करके व तपका आचरण करके फिर तीर्थंकर पदवी के धारक हो जाते हैं ॥ ६ ॥

ओं ह्रीं प्रवचनवात्सल्याय महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(आर्शीव।

एताः षोडशभावनाः यतिवराः कुर्वन्तिये निर्मल ।

स्मे यै तीर्थंकरस्य नाम पद्वी मायुर्लभन्ते कुलम् ॥

वित्त काञ्चन पर्वतेषु विधिना स्नानार्चनं देवता ।

राज्यं सौख्यमनेकधा वरतपो मोक्षच्च सौख्यास्पदम् ॥ १ ॥

इत्याशीर्वाद ।

समुच्चय जयमाल का अर्थ ।

अर्थ—[घत्ता] जन्मरूपी समुद्र से पार करने वाले, दुर्गति को निवारण करने वाले, मोक्ष को देने वाले, सत्य का प्रकाश और तीर्थंकर लक्ष्मी को धारण करने वाले ऐसे सोलहकारण धर्म को नमस्कार करके स्तुति अर्थात् दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणों को समुच्चय जयमाला को कहता हूँ ॥ १ ॥

हेभव्यजीवो ! शका कांक्षा-आदि जैनागम में प्रसिद्ध पच्चीस दोषों से रहित दर्शन विशुद्धि भावना का तुम निरन्तर चिन्तवन करो । पांच प्रकार के विनय को पालो जो कि जिनशासन का एक प्रधान मूल कारण है । अतीचार से रहित निर्दोष शील व्रत

वइयावच्चुवि दस भेय फार। विरइज्जइ भव आवइ णिवार ॥
अरहंत भत्ति अहणिमि कुणेहु। तहु णाम करूं थिर मणु गुणेहु ॥ ५ ॥
पविहिज्जइ पुण आयरिय भत्ति। गुरु भत्ति देव वंदण जु हुत्ति ॥
वहु सुयह भत्ति दोसावहार। विरइज्जइ णाण पवित्तयार ॥ ६ ॥
पवयणहु भत्ति जिण समय पोस। किज्जइ संसय तम दलण गोस ॥
छावासइ किरिया णिरु करेहु। असुहासुह आवंतहु दरेहु ॥ ७ ॥
जिण मग्ग पहावण करहु भव्व। जिह अणहुंता गुण हुंति सव्व ॥
वच्छल्लुवि किज्जइ यहु पहाण। फेडिप्पिण दुद्धरु मोह माण ॥ ८ ॥

घत्ता। **इय सोलह भावण, शिवसुइ दावण, थिर चित्ते जो कुवि करई।**
या विवि नित्थत्तणु, पवपहिपयतणु, सो पंचमगइ संचरई ॥ १ ॥

ओं ह्री दर्शन विशुद्धयादि षोडशकारणेभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

१०३

दूर करने के लिये सूर्य के समान है। निरन्तर ही छह आवश्यक क्रियाओं को करके, आते हुये अशुभाश्रव को दूर करो ॥ ८ ॥

हे भव्य! जिनमार्ग की प्रभावना को करो जिसके अनुभव करने से सर्व ही गुण प्राप्त होते हैं–दुर्द्धर मोह के मान को दूर करने के लिये प्रधान वात्सल्य अङ्ग की भावना का चिन्तन करो ॥ ८ ॥

[घत्ता]—इस प्रकार मोक्ष सुख को देने वाली सोलह कारण भावनाओं का जो पुरुष स्थिर और शुद्ध मन होकर चिन्तवन करते हैं वे तीर्थंकर पदवी को प्राप्त करते हुए संसार बंधनों को तोड़कर शीघ्रहा पंचमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥

शांतिपाठ—संस्कृत।

[शान्तिपाठ पढ़ते समय दोनों हाथों से पुष्पवृष्टि करते रहना चाहिये।]

शांतिजिनं शशिनिर्म्मलवक्त्रं शीलगुणव्रतसंयमपात्रम्।
अष्टशतार्च्चितलक्षण गात्रं नौमि जितोत्तमम्बुजनेत्रम् ॥ १ ॥

का पालन करो जो कि मोक्ष मार्ग में बड़ा भारी सहायक है। समस्त सकल्प विकल्पों को दूर कर समय समय ज्ञानोपयोग का अनुसरण करो ॥ २ ॥

धर्म और धर्म के फल व भेदादि का चिन्तवन करते हुये सांसारिक दुःखों से निर्मुक्त होने के लिये संवेग अङ्ग को मनमें भाओ। अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों के लिये आहारादि चार प्रकार का दान दो अथवा चारों कषायों का त्याग करो ॥ ३ ॥

अभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रहों को त्याग करके अपनी शक्ति के अनुसार दुर्द्धर (कठिन) तपको करो। निरन्तर ही साधु समाधि का चित्त में चिंतवन करो। व्यर्थ ही रागादिकों को किस लिये और निमित्त से करते हो ? ॥ ४ ॥

दश प्रकार के मुनियों की वैयावृत्ति करो जो संसार में होने वाली आपत्तियों को हरने वाली है। शुद्ध मनसे दिनरात अरहंत की भक्ति को करो। तथा स्थिर चित्त होकर उन्हीं को नमस्कार और स्मरण करो ॥ ५ ॥

आचार्यों की भक्ति करो, क्योंकि गुरुभक्ति भी देव वंदन के समान होती है। बहुश्रुत अर्थात् उपाध्याय की भक्ति दोषों को नाश करने वाली तथा ज्ञान व पवित्राचार को देने वाली है ॥ ६ ॥

शास्त्रों की भक्ति जिनशासन को पुष्ट करने वाली तथा संशय रूपी अन्धकार को

१०५

स्रग्धरावृत्तम् ।

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल· ।
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व सौख्यप्रदायी ॥ ७ ॥

अनुष्टुप—प्रध्वस्तघातिकर्माण: केवलज्ञानभास्कर: ।
कुर्वन्तु जगत· शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वरा· ॥ ८ ॥

प्रथमं करणे चरणं द्रव्यं नमः ।

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति· सङ्गतिः सर्वदार्यैः ।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ॥
सर्व स्यापि प्रिय हित वचो भावना चात्मतत्त्वे
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यात देतेऽपवर्ग· ॥ १० ॥

पञ्चमीप्सितचक्रधराणां पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च ।
शान्तिकरं गणशान्तिमभीप्सुः षोड़शतीर्थंकरं प्रणमामि ॥ २ ॥

दिव्यतरुः सुरपुष्पसुवृष्टिर्दुन्दुभिरासन योजनघोषौ ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मण्डलतेजः ॥ ३ ॥

तं जगदर्चितशान्तिजिनेन्द्रं शान्तिकरं शिरसा प्रणमामि ।
सर्वगणाय तु यच्छतु शान्तिं मह्यमरं पठते परमा च ॥ ४ ॥

वसन्ततिलका ।

येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्म ।
ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपास्तीर्थङ्कराः सततशान्तिकरा भवन्तु ॥ ५ ॥

इन्द्रवज्रा ।

संपूज कानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र सामान्यतपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्रः ॥ ६ ॥

आह्वानं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम् ।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ॥ २ ॥
मंत्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीन तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ ३ ॥
आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्
ते मयाभ्यर्चिता भक्तया सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥ ४ ॥

शान्तिपाठ—भाषा ।

चौपाई ।

शान्तिनथ मुख शशि उनहारी । शीलगुणव्रत संजमधारी ॥
लखत एकसौ आठ विराजैं । निरखत नयन कमलदल लाजैं ॥ १ ॥
पञ्चम चक्रवर्तिपद धारो । सोलम तीर्थंकर सुखकारो ॥
इन्द्रनरेन्द्र पूज्य जिन नायक । नमौंशान्ति हित शांतिविधायक ॥ २ ॥

आर्यावृत्तम्।

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः ॥ ११ ॥

आर्या।

अक्खर पयत्थहीणं मत्ता हीणं च जं मए भणियं।
त खमउ णाणदेव य मज्झवि दुक्खक्खयं दिन्तु ॥ १२ ॥
दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरणं च वोहिलाहो य।
मम होउ जगत बंधव तव जिणवर चरण सरणेण ॥ १३ ॥

(परिपुष्पांजलिं क्षिपेत्)

विसर्जन।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया।
तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ॥ १ ॥

बोलूं प्यारे वचन हित के, आपका रूप ध्याऊं ।
तौलौं सेऊं चरण जिनके, मोक्ष जौलौं न पाऊं ॥ ९ ॥

आर्या ।

तुवपद मेरे हिय में, ममहिय तेरे पुनीत चरणों में ।
तब लौं लीन रहौं प्रभु, जबलौं पाया न मुक्ति पद मैंने ॥ १० ॥
अक्षरपद मात्रा से, दूषित जोकुछ कहा गया मुझसे ।
क्षमा करो प्रभु सो सब, करुणाकरि पुनि छुड़ाउ भव दुख से ॥ ११ ॥
हे जगवन्धु जिनेश्वर, पाऊं तब चरण शरण बलिहारी ।
मरणसमाधि सुदुर्लभ, कर्मों का क्षय सुबोध सुखकारी ॥ १२ ॥

परिपुष्पांजलि क्षिपेत् ।

विसर्जन पाठ ।

दोहा—बिन जाने व जानके, रही टूट जो कोय ।
तुव प्रसादतैं परमगुरु, सो सब पूरण होय ॥ १ ॥

दिव्यविटप पहुपनकी बरसा । दुन्दुभि आसन वाणी सरसा ॥
छत्र चमर भामण्डल भारी । ये तुव प्रातिहार्य मनहारी ॥ ३ ॥
शान्ति जिनेश शान्ति सुखदाई । जगत पूज्य पूजों सिर नाई ॥
परमशान्ति दीजे हम सबको । पढ़ें तिन्हें, पुनि चार संघको ॥ ४ ॥

[वसन्ततिलका]—पूजें जिन्हें मुकुट हार किरीट लाके । इन्द्रादिदेव, अरु पूज्य पदाब्ज जाके ॥
सो शांतिनाथ वरवश जगत्प्रदीप । मेरे लिये करहिं शान्ति सदा अनूप ॥ ५ ॥

[इन्द्रवज्रा]—संपूजकोंको प्रतिपालकों वे ।, यतीन वे । औ यतिनायकों को ।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले, कीजे सुखी हे जिन, शान्ति को दे ॥ ६ ॥

[स्रग्धरा]—होवै सारी प्रजा को सुख. बलयुत हो धर्मधारी नरेशा ।
होवै वर्षा समैपै, तिलभर न रहै व्याधियों का अन्देशा ॥
होवै चोरी न जारी, सुसमय वरतै, होन दुष्काल भारी ।
सारे ही देश धारैं जिनवर वृषको, जोसदा सौख्यकारी ॥ ७ ॥

[दोहा]—घातिकर्म जिन नाश करि, पायो केवल राज ।
शांति करैं सो जगत में, वृषभादिक जिनराज ॥ ८ ॥

[मन्दाक्रान्ता]—शास्त्रों का हो पठन सुखदा, लाभ सत्संगती का ।
सद्वृत्तों के सुगुन कहके, दोष ढांकूं सभी का ॥

भाषास्तुति पाठ ।

तुम तरन तारन भव निवारन, भविकमन आनदनो ।
श्री नाभिनंदन जगतवन्दन, आदिनाथ निरञ्जनो ॥ १ ॥
तुम आदिनाथ अनादि सेऊ, सेय पद पूजा करूं ।
कैलाशगिरि पर रिषभ जिनवर. पदकमल हिरदे धरूं ॥ २ ॥
तुम अजितनाथ अजीत जीते, अष्ट कर्म महाबली ।
यह विरद सुनकर सरन आयो, कृपा कीजे नाथजी ॥ ३ ।
तुम चन्द्रवदन सु चन्द्रलच्छन, चन्द्रपुरि परमेश्वरो ।
महासेन नन्दन, जगतवन्दन, चन्द्रनाथ जिनेश्वरो ॥ ४ ॥
तुम शांति पांच कल्याण पूजों, सुद्धमन वचकायजू ।
दुर्भिक्ष चारी पाप नाशन, विघ्न जाय पलायजू ॥ ५ ॥
तुम बालब्रह्म विवेक सागर भव्य कमल विकाशनो ।
श्रीनेमिनाथ पवित्र दिनकर, पाप तिमिर विनाशनो ॥ ६ ॥
जिन तजी राजुल राजकन्या, काम सैन्या वश करी ।
चारित्ररथ चढ़ि भये दूलह, जाय शिव रमणी वरी ॥ ७ ॥

पूजनविधि जानों नहिं, नहीं जानों आह्वान ।
और विसर्जन हू नहीं, क्षमा करो भगवान् ॥ २ ॥
मंत्र हीन धन हीन हूं, क्रिया हीन जिन देव ।
क्षमा करहु राखहु मुझे, देहु चरण की सेव ॥ ३ ॥
आये जो जो देवगन, पूजे भक्ति प्रमान ।
सो अब जावहु कृपाकर, अपने अपने धाम ॥ ४ ॥

॥ समाप्त ॥

११३

नाम लेत सब दुःख मिट जाय। तुम दर्शन देख्यो प्रभु आय।
तुम हो प्रभु देवन के देव। मैं तो करूं चरण तव सेव ॥ १६ ॥
मैं आयो पूजन के काज। मेरो जन्म सफल भयो आज।
पूजा करके नवाऊं शीश। मुझ अपराध क्षमहु जगदीस ॥१७॥

दोहा--सुख देना दुःख मेटना, यही तुम्हारी बान।
मो गरीब की बीनती, सुन लीज्यो भगवान ॥ १८ ॥
दर्शन करते देवका, आदि मध्य अवसान।
स्वर्गन के सुखभोग कर, पावै मोक्ष निदान ॥ १९ ॥
जैसी महिमा तुम विषै, और धरै नहीं कोय।
जो सूरज में ज्योति है, तारन में नहिं सोय ॥ २० ॥
नाथ तिहारे नामतें, अघ छिनमाहिं पलाय।
ज्यों दिनकर परकाशतें, अंधकार विनसाय ॥ २१ ॥
बहुत प्रशंसा क्याकरूं, मैं प्रभु बहुत अजान।
पूजा विधि जानूं नहीं, सरन राखि भगवान ॥ २२ ॥

कंदर्प दर्प सुसर्पलक्षण, कमठ शठ निर्मल कियो।
अश्वसेवनन्दन जगतवन्दन, सकल संघ मगल कियो ॥ ८ ॥
जिन धरी बालक पणे दीक्षा, कमठ मान विदारकैं।
श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र के पद, मैं नमो सिरधारकैं ॥ ९ ॥
तुम कर्मघाता मोक्षदाता, दीन जानि दया करो।
सिद्धार्थ नन्दन, जगत वन्दत महावीर जिनेश्वरो ॥ १० ॥
त्रय छल सोहै सुरन मोहै, विनती अब धारिये।
करि जोड सेवक वीनवें, प्रभु आवागमन निवारिये ॥ ॥
अब होऊ भवभव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहों।
कर जोड यों वरदान मांगों, मोक्ष फल जांचत लहों ॥ १२ ॥
जो एक माहीं एक राजे, एक माहीं अनेकनो।
इक अनेक की नहीं संख्या, नमों सिद्धनिरजंनों ॥ १३ ॥
मैं तुम चरण कमल गुण गाय। बहुविध भक्ति करी मनलाय ॥
जनम जनम प्रभु पाऊं तोहि। यह सेवा फल दीजे मोहि ॥ १४ ॥
कृपा तिहारी ऐसी होय। जामन मरन मिटावो मोय।
बार बार मैं बिनती करूं। तुम सेये भवसागर तरूं ॥ १५ ॥